रसवन्ती

रचयिता

श्रीरामधारीसिंह "दिनकर"

उदयाचल, पटना

चतुर्थ संस्करण] [मूल्य २॥)

सूखे विटप की सारिके !

उजड़ी - कटीली डार से
मैं देखता किस प्यार से,
पहना नवल पुष्पाभरण
तृण, तरु, लता, वनराजि को,
हैं जा रहे विहसित-वदन
ऋतुराज मेरे द्वार से।

* * *

मुझ में जलन है, प्यास है,
रस का नहीं आभास है,
यह देख हँसती वल्लरी,
हँसता निखिल आकाश है।
जग तो समझता है यही,
पाषाण में कुछ रस नहीं,
पर, गिरि-हृदय में क्या न
व्याकुल निर्झरों का वास है ?

* * *

बाकी अभी रसनाद हो,
पिछली कथा कुछ याद हो,
तो कूक पंचम तान में,
संजीवनी भर गान में।
सूखे विटप की डार को
कर दे हरी करुणामयी ;
पढ़ दे ऋचा पीयूष की,
उग जाय फिर कोंपल नयी ;
जीवन - गगन के दाह में
उड़ चल सजल नीहारिके !
सूखे विटप की सारिके !

विषय-सूची

भूमिका

'रेणुका' और 'हुङ्कार' के विपरीत, 'रसवन्ती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव-सा है। इन गीतों में, मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हूँ और, प्रायः, अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं।

रहे फिर तब से अनु-अनु देवि,
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान।

इस अलस-भ्रमण में कुछ मेरे हाथ भी लगा या नहीं, यह तो याद नहीं है, हाँ, यात्रा सुखद रही। तो भी, इन गीतों में जीवन के जो प्रतिविम्ब उग आये हैं, वे सीधे नहीं आ सके। उनका प्रतिफलन तिर्यक अथवा वक्र रहा है। सीधा इसलिए नहीं, चूँकि चित्र लेते समय मैं तटस्थ नहीं रह सका और दृश्यों के साथ तत्सम्बन्धी अपनी निजी भावनाओं को भी अंकित कर गया। मिट्टी की गन्ध हवा में भर गई। आदर्श में नग्न उँगलियों के धब्बे लग गये। तृषित जीव के चुम्बन से स्वप्न सिहर उठा। कुशल हुई कि फूलों को मैंने सिर्फ छूकर छोड़ दिया और चाँदनी का पोस्टमार्टम नहीं किया, नहीं तो आर्टवाले न जानें आज क्या कर बैठते! अस्तु।

संभव है, अपने अर्थ में मुझे प्रगतिशील समझनेवाले कुछ पाठक 'रसवन्ती' से निराश भी हों। उनके आश्वासन के लिए मैं निवेदन करूँगा कि दिन-भर सूर्य के ताप में जलनेवाले पहाड़ के हृदय में भी, चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बाँसुरी का-सा कोई अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी जल-धारा के बह जाने की आकुलता का नाद है। रसवन्ती को मैं 'कुरूप पर्वत की बाँसुरी' कहना चाहता था, लेकिन, है यह 'दाह की कोयल' और 'धूप में उड़नेवाली एक बूँद शबनम'!

इसके सिवा, प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं, बल्कि, नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित-चर्वण, पुरातन-विजृम्भन और गतानुगतिकता के खिलाफ हैं। वे

सभी लेखक प्रगतिशील हैं, जो किसी प्रकार भी अनुकरणशील नहीं कहे जा सकते। प्रगति का प्रतिलोम युगविमुखता नहीं, बल्कि गति-विमुखता अथवा अगति है।

सङ्घ कायम करने अथवा आन्दोलन चलाने से साहित्य में प्रगतिशीलता नहीं आती, प्रत्युत्, यह उसका सनातन गुण है और इसे छोड़कर वह जी नहीं सकता। सार्थक साहित्य हमेशा प्रगतिकामी ही हुआ करता है। साहित्य में प्राचीम शैलियों की आवृत्ति किसी भी युग में आदर नहीं पा सकी और अनुकरण-कर्त्ताओं को कभी भी स्रष्टा का पद नहीं मिला। साहित्य की यात्रा में सदैव वे ही पूजनीय माने गये हैं जिनका पन्थ प्राचीन अथवा समकालीन यात्रियों से किञ्चित् भिन्न, कुछ नवीन, अतः, प्रगति की ओर था।

आजकल जिस रीयलिज्म की, साँस-साँस पर, दुहाई दी जा रही है वह कोई नया अनुसन्धान नहीं है। साहित्य के तत्व जीवन से आते हैं और उद्भिजों की भाँति वे भी निम्न-स्तर से ही ऊपर को उठते हैं। सभी युगों में प्रगतिशील अर्थात् सार्थक साहित्य का मूलाधार वास्तविकता रही है, किन्तु यह वास्तविकता केवल स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी होती है। स्थूल दृष्टि से जो समीप है वह सत्य और जो दूर है वह असत्य, इस भद्दी कसौटी पर वास्तविकता की परीक्षा करना अव्याप्ति के दोष में पड़ना है, क्योंकि कल्पक के मनोदेश का नन्दनवन उतना ही सत्य है जितना पुतलीघरों का रूक्ष वातावरण और उनके कल-पुर्जे। 'आँख मूँदने पर हमारे मन की अलकापुरी पास के ताड़ीखाने से अधिक सत्य हो उठती है।' कल्पक को अपनी कल्पना की मूर्त्तियाँ सबसे अधिक प्रिय इसीलिए होती हैं चूँकि उनसे बोलने पर वह सत्य के निकटतम की वार्त्ता सुन पाता है। सच तो यह है कि पृथ्वी और आकाश दोनों सत्य हैं और हम जब जहाँ रहते हैं तब वहीं की सत्यता प्रखर हो उठती है। वस्तु और आदर्श को लेकर संसार-भर में आज जो आन्दोलन चल रहे हैं, वे विवाद की स्वाभाविक सहचरियों—अत्युक्ति और कटुता—के कारण सत्य के समीप नहीं आ रहे हैं, नहीं तो हमें यह कब को ही मालूम हो गया होता कि वास्तविक और आदर्श के नाम से साहित्य के अन्दर हम जो विभाजन करना चाहते हैं, दर-असल, वह भेद अनुभूति का है। तीव्र अनुभूति, मार्मिक भावाकुलता और सच्ची प्रसन्नता से लिखी हुई काल्पनिक कथाएँ अत्यन्त वास्तविक हैं, क्योंकि हम उनमें जलते जीव का ताप पाते हैं; क्योंकि कल्पना का आधार लेकर उनमें जीवित कवि के प्राण और उसके दह्यमान हृदय की ऊष्मा प्रवाहित हो रही है; और केवल भाड़े पर लिखी हुई चीजें, रोटी का राग और साम्यवाद के गीत बिलकुल असत्य हैं, क्योंकि उनमें अनुभूतिका दाह नहीं है, क्योंकि वे बिलकुल समय की पर-

माइश पर नाचनेको आई हैं। साहित्य की सबसे बड़ी प्रचण्ड और अद्भुत् शक्ति अनुभूति है जिसके आलोक में पड़कर वस्तु आदर्श और आदर्श सत्य हो जाता है। मनुष्यका अनुभूतिशील हृदय ही कविताके जन्म और उसके विहार की भूमि है। हृदय की सचाई से काव्य में तेज और सौन्दर्य प्रकट होता है, कल्पना से नहीं; क्योंकि वह तो उस भूमिका वायुमण्डल है; परियों, देवदूतों और नन्दनकानन से नहीं, क्योंकि वे तो उस वायुमण्डलके कीटाणु हैं। जिस लेखक ने देश की पीड़ा का अनुभव किया है, जिसकी रचनाएँ अपरिहार्य हैं—जो इसलिए लिखता है चूंकि लिखे बिना उसे कल नहीं और लिखने पर कल पड़ती है, कलम पकड़ने पर तीनों काल जिसके ध्यान में हृदय खोलकर खड़े हो जाते हैं, संक्षेप में, जो अपने और अपनी कला के प्रति ईमानदार है उसे यह सोचने की जरूरत नहीं है कि लोग उसे प्रगतिकामी कहेंगे या कुछ और; क्योंकि जो कुछ वह लिख रहा है वही वस्तु है, वही आदर्श है, और प्रगतिशील चाहे वह हो या न हो, लेकिन एकमात्र वही सार्थक साहित्य है जो आज जीवित आया है और आगे भी जीवित रहेगा।

साहित्य को अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में प्रगतिकामी कहकर जो लोग उसे राजनीति का रणवाद्य बना देना चाहते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि रुपये और साहित्य में अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। अभिजातीय कहकर हम जिस सामाजिक वर्ग-गुण के प्रति द्वेष और घृणा प्रकट करते हैं, साहित्य में उसका प्रयोग सुन्दरता और परिमार्जन का द्योतक है। वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न धन की तामसिक प्रभुता की प्रतिक्रिया का परिणाम है, किन्तु साहित्य मनुष्य की व्यापक और नित्य-अनित्य सभी प्रकार की भावनाओं का गुम्फन है। मनुष्य की सर्वांगीण स्वाधीनता के आदर्श के शत्रु, शोषक अभिजातीय वर्ग के प्रति रोषपूर्ण उक्ति भी साहित्य हो सकती है, लेकिन एकमात्र वही प्रगतिशील नहीं है। धन पर रोष करके मनुष्य समाज की रचना को बदल दे सकता है, लेकिन अपनी सनातन भावनाओं का त्याग नहीं कर सकता। माना कि संघर्ष की ज्वाला में कुछ दिनों तक साहित्य की कोमल वृत्तियों की आहुतियाँ पड़ती रहें, किन्तु, जब ज्वाला शान्त हो जायगी और समाज में वर्गहीनता का विधान कर दिया जायगा तब भी मनुष्य अपनी उन भावनाओं का सदैव के लिये त्याग करके कैसे बैठ जायगा जो उसकी जन्मजात सम्पत्ति हैं? क्या वर्गहीन समाजके लोग प्रेम और विरह, तृष्णा और वासना, राग और मोह, रूप के वाण और आध्यात्मिक चिन्ताओं से परे हो जायँगे? स्विनबर्न और शेली ने ईश्वर को नहीं मानते हुए भी पारलौकिक बातें की हैं, देवताओं की प्रशस्तियाँ गाई हैं और बराबर

मनुष्यों को इहलौकिक मलों से ऊपर उठने की प्रेरणा दी है। सच तो यह है कि आध्यात्मिक चिन्ता और विकास की कल्पना मानव-जाति की उन्नति का मेरुदंड रही है। मनुष्य का विकास मिट्टी से शून्य की ओर देखते-देखते हुआ है। अध्यात्म स्थूल रूप से कुछ नहीं होकर भी मनुष्य को ऊपर उठाने में, उसकी पशुता को नष्ट करने में सहायक हुआ है। राजनीतिक आन्दोलनों की रण-भेरी बनकर साहित्य जीवित रह सकेगा या नहीं, यह विषय चिन्त्य है। साम्यवाद ने साहित्य को प्रचार के रूप में ग्रहण किया था, लेकिन समाजवादी रूस को यह शीघ्र ही मालूम हो गया कि प्रचार साहित्य और सच्चे साहित्य में बहुत अन्तर है।

मनुष्य के नाते कवि का भी यह धर्म है कि वह मिट्टी के प्रति अपना दायित्व निभाये, युद्ध के वातावरण में अपना सीना खोले और प्रहारों के आदान-प्रदान में भाग ले; लेकिन, कवि के नाते उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी कोमल भावनाओं की, कैद में, हत्या नहीं करे—वे भावनाएँ जो युद्ध के वायुमण्डल में, गोलियों की वर्षा के बीच सिपाही के दिल में माता की सुधि, प्रिया और बच्चों की स्मृति तथा धुएँ से दूर दूब और फूलों की याद बनकर खिलती हैं। हाँ, हम अधिक-से-अधिक इतना कह सकते हैं कि वह उस प्रकार लिखे जिससे यह मालूम हो जाय कि जब वह कविता कर रहा था तब उसके कक्ष के बाहर बम गरज रहे थे, बड़े-बड़े युग-प्रवर्त्तक आन्दोलन चल रहे थे तथा वह जिनके लिये लिख रहा था वे समर के पथ पर आरूढ़ थे।

सैद्धान्तिक मतभेद उस समय कटु और अनर्गल हो उठता है जब उसका जन्म प्रतिक्रिया से होता है। प्रगतिवाद का नया विवाद भी साहित्यिकों के उन अकर्मण्य तथा दायित्वहीन उद्‌गारों का जवाब है जो ऑस्कर वाइल्ड—जैसे लोगों के मुँह से "When man acts he is a puppet, when he decides he is a poet" आदि वाक्यों में निकले थे। जीवन न तो केवल ज्ञान पर टिका है और न केवल कर्म पर। पूर्णता दोनों के समुचित सामंजस्य में है। कर्म के संग ज्ञान का जब कभी असहकार होगा तभी ऐसे आन्दोलन उठ खड़े होंगे। विचारों को सजाकर, गेय बनाकर, संसार में मँडलाने के लिये छोड़ देने से कला विजयिनी नहीं हो सकती। उसकी सार्थकता तो तब है जब वह कार्य को प्रेरित करे। भाव की परिणति और पूर्णता बलिदान में है, लेकिन, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि बलिदान का जन्म भावों के बीच से होता है।

काव्य को एक बार मैंने जाग्रत पौरुष का उच्चार कहा था, लेकिन तब मैं

इतना जोड़ना भूल गया था कि उसका विकास अर्द्ध-नारीश्वर के आशीर्वाद से होता है। हलाहल का पान करनेवाले नीलकण्ठका अन्य अर्द्धांग अमृत-पूर्ण है, यह कल्पना ही, मानों, काव्य को अपनी पूर्णता की याद दिलाती है। साहित्य जहाँ समकालीन पीढ़ी का परिपाक है, वहाँ वह उसकी सनातन आवश्यकताओं की भी पूर्त्ति करता है। आत्मा की गहराइयोंका मन्थन करनेवाला ध्यानस्थ, अन्तर्मुखी साहित्य जब समय की आवाज पर चौंक पड़ता है, साधक का आसन छोड़कर सैनिकों के बीच जा खड़ा होता है, तब हमें यह सोचकर प्रसन्नता होती है कि संन्यासने विपत्ति-ग्रस्त गार्हस्थ्य का साथ दिया। लेकिन स्मरण रहे कि गार्हस्थ्य की नित्य-उपासना से संन्यास की मर्यादा बढ़ती नहीं, घटती है। गाँवों से होकर बहनेवाली नदियाँ अपने किनारे पर के लोगों की तात्कालिक आवश्यकताएँ तो पूरी कर देती हैं, लेकिन, खुद उनसे मोह बढ़ाने को रुकतीं नहीं, अपने स्वाभाविक और अन्तिम लक्ष्य की ओर चलती ही रहती हैं। साहित्य की जो कृतियाँ वर्तमान जीवन के दाह और दुःखों से उदासीन हैं, जूझते हुए शूरमाओं की पदरज लेने में शरमाती हैं और मिट्टी की गन्ध से निर्लिप्त रहने का दम्भ रचती हैं, वे मृत हैं, वे कृतघ्न हैं और संसार को उनसे प्रतिशोध लेने का पूरा अधिकार है। लेकिन, जो साहित्य चेतना के चिरञ्जीवी तत्वों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा है, वह अपनी ही फाँसी की डोरी आप तैयार कर रहा है। कवि-कोविदों की तो बात ही क्या, हम चाहते हैं कि स्वयं ईश्वर भी कराहती हुई पृथ्वी की आवाज सुनें और सत्यलोक से उतरकर धरती पर जन्म लें। दूसरी ओर, हमारी यह भी अभिलाषा है कि ईश्वर को मिट्टी पर बुलानेवाले खुद हमीं मिट्टी छोड़ कर देवत्व की ओर बढ़ें और ईश्वर-कोटि को प्राप्त करें। समन्वय की यही भावना साहित्य का मूलाधार है और शून्य तथा सत्य की यह ग्रन्थि ऐसी अविच्छिन्न है कि एक के बिना दूसरा देखा ही नहीं जा सकता। साहित्यके त्रिविध ऐश्वर्य, (सत्य, शिव और सुन्दर) में से किसी एक को तोड़कर अलग नहीं किया जा सकता और न किसी की पक्षपातपूर्ण एकांगी उपासना ही की जा सकती है। जहाँ समन्वय का साम्राज्य है, वहाँ पक्षपात या विभाजन नहीं चल सकता और जहाँ इस प्राकृतिक नियम का विरोध होगा वहीं कला क्षत-विक्षत होकर गिर पड़ेगी और साहित्य मुमूर्षु हो जायगा।

लेकिन इस त्रिविध विभूति में से सत्य को तोड़कर अलग कर लेनेकी जो अप्राकृतिक चेष्टा की जा रही है उसका भी कारण है और अधिकांश में यह उस प्रतिक्रिया का परिणाम है जो हिन्दी पर आधुनिक बङ्गला कविता तथा अंगरेज रोमांटिक कवियों के मादक एवं

जुम्भोत्पादक प्रभावों के विरुद्ध अभी हाल में आरम्भ हुई है। साहित्य में प्रत्येक युग अपनी पूर्व-धारणाएँ लेकर चलता है और वर्तमान हिन्दी-कविता की पृष्ठ-भूमि में जो धारणाएँ निरूपित हुई थीं वे दलित राष्ट्र के आत्मदर्शन का प्रतीक थीं। रोमांटिक आन्दोलन के आरम्भ से पूर्व ही हिन्दी-साहित्य के सामने राष्ट्रीय दुर्गति का चित्र काफी साफ होकर उग चुका था और ऐसे लोगों की प्रतीक्षा की जा रही थी जो इस चित्र में प्राण डालकर इसे सजीव कर सकें। लेकिन, साहित्य के सौभाग्य और राजनीति के दुर्भाग्यसे हिन्दी में जिस शैली का जन्म हुआ वह इस कार्य के सर्वथा अयोग्य थी। इस रहस्यको अधिक स्पष्टता से देखने के लिये वर्तमान रोमांटिक शैली और इसके पूर्ववाली द्विवेदीकालीन शैली का भेद समझ लेना चाहिये।

सुविधाके लिये द्विवेदीकालीन शैली को अगर हम क्लासिक कहना स्वीकार कर लें तो यह विदित होगा कि क्लासिक से रोमांटिक इसीलिये भिन्न है चूंकि पहली श्रेणी के काव्य में प्रत्येक भावना अपने अधिक से अधिक नग्न रूप में मस्तिष्क के सामने लाई जाती है और उसका वर्णन तद्गत रूप में किया जाता है, उसपर किसी किस्म का रङ्ग नहीं चढ़ाया जाता और वैयक्तिक अनुभूतियों का पुट दिये बिना ही उसे अपना प्रभाव आप उत्पन्न करना पड़ता है। इसके विपरीत, रोमांटिक रचनाओं में सभी चीजें किसी रंग बदलने वाले पारदर्शी शीशे के भीतर से दिखलाई जाती हैं तथा रचना के चमत्कार और प्रभाव को तीव्रतम करने के लिये कवि मुख्य विचार के चारों ओर छोटे-छोटे रंगीन भावों की ऐसी घटाएँ सज देता है कि कभी-कभी मुख्य परिधि भी रंगीनियोंके जाल में छिप-सी जाती हैं। रचना करते समय क्लासिक पद्धति का लेखक अपने आप को काबू में रखता है, लेकिन रोमांटिक कवि उत्तेजना और आवेश में इस प्रकार बहने लगता है कि उसे अपने आप की खबर नहीं रहती। विषय कितना भी शक्तिशाली या प्रशस्त क्यों न हो, लेकिन क्लासिक कवि उसे अपने नियन्त्रण और प्रभुत्व में जरूर रक्खेगा, लेकिन रोमांटिक कवि का हाल ठीक इसके उलटा होता है। आत्म-नियन्त्रण उसके स्वभाव में ही नहीं होता और जब वह किसी चीज को उठाता है तब उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि वर्ण्य वस्तु अपनी रंगीन किरणों से उसे चकाचौंध में डाल रही है और अपने जादू पर रिझाती हुई उसे कहीं दूर लिये जा रही है। एक तो आकाश की बातें भी चट्टान पर खड़ा होकर करता है। दूसरा धरती की बात करते समय भी धरती से दूर ही रहता है; मानों, वह अपने ही भावों के आलोक में प्रच्छन्न हो गया हो। एक की खूबी नियंत्रण की शक्ति, सादगी और न्यायसंगत

चित्रण है और दूसरे की विशेषता उन्मेष का बहुरंगी आलोक तथा वैयक्तिकता की अभिव्यंजना का अनन्त चमत्कार।

ऐसी रोमांटिक शैली—जो धरती से दूर-दूर ऊषा के कनकाभ प्रान्त से होकर चलने की आदी थी—अपने प्रेमियों को धूल में लोटने नहीं दे सकती थी, उन्हें उस कठोर सत्य के सामने खड़ा नहीं कर सकती थी जो देखने में कुरूप था, जिसके ताप से हल्के रंग उड़ जाते थे और जिसे चित्रित करने के लिए हृदय—ठीक हृदय—का लहू चाहिए था। रोमांटिक शैली के विशिष्ट पुजारी, जो आत्मबोध की कड़वाहट से घबराकर सौन्दर्यबोध की रंगीनियों में अपने को भुला रहे थे, यह लहू नहीं दे सकते थे। उनके हाथों में तो रंगों की छोटी-छोटी कटोरियाँ थीं जिन्हें सूखने से बचाने के लिए वे घटा की राह चल रहे थे। आखिर यह रक्त दिया भी गया, लेकिन उनके द्वारा जिनके अन्दर का मनुष्य कवि की अपेक्षा अधिक बलवान था और जो अपने जीवन के तेज से छायावाद के कुहासे को भेदकर समय के आर-पार देख सकते थे। ज्ञान के संग कर्म के असहकार का जैसा ज्वलन्त उदाहरण हिन्दी-कविता के छायावादी युग में देखने को मिला वैसा किसी भी साहित्य में शायद ही, मिला होगा। रोमांटिक जादूगरनी ने कवियों को भुलाना तो बहुत चाहा, लेकिन, धरती का निरन्तर ऊर्ध्वगामी नाद इतना कठोर था कि ये कल्पक शून्य में अपना आश्रय कायम नहीं रख सके और उनमें से कई आज मिट्टी पर उतर कर हल-पालो पकड़ रहे हैं। प्रतिक्रिया ऐसी भीषण हुई है कि साहित्य की भूमि पर चरखे और फावड़े की कौन कहे, भैंसागाड़ी और ट्राम तक चलने लग गई है।

जिन्होंने धरती के क्रन्दन से बचने के लिये कभी आकाश को शरण ली थी वे ही आज झोपड़ियों के पास बैठकर रो रहे हैं। एक दिन जिन स्वप्नों की रक्षा के लिये पृथ्वी का तिरस्कार किया गया था, आज वे ही स्वप्न आहुतियों के रूप में अग्नि को समर्पित किये जा रहे हैं। तब जो साहित्य तैयार हुआ था उसमें जीवन का अभाव था; अब जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें चिन्तन की कमी है। एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले ही कहला ले, लेकिन समन्वय के बिना वह दीर्घायु नहीं हो सकता।

कुछ कसूर उस जमाने का भी है जिसमें हमलोग जी रहे हैं। आधि-भौतिकता के विरुद्ध सौन्दर्य-बोध की जो प्रतिक्रिया हुई उसके फलस्वरूप यह भावना चल पड़ी कि कुछ चीजें कविता का विषय नहीं हो सकतीं। अर्थात्, कवि गुलाब की तो चर्चा कर सकता है, किन्तु ट्राम की नहीं; यानी कविता दुःखों का सामना नहीं कर सकती, उसकी ओर से आँखें फेरकर सुख पा सकती है, यानी

कवि भावुक होने के कारण स्वप्नों में शरण खोज सकता है, जीवन की रूक्षता का मुकाबिला नहीं कर सकता, यानी उसके हाथ में कोमल गान करनेवाली बाँसुरी होती है और वह अपने अर्द्धमूक बन्धुओं को प्रेरित करने के लिए शंखनाद नहीं कर सकता।

प्रगतिवाद इस मिथ्या सिद्धान्त का खंडन करने आया था, लेकिन, देखते हैं कि आवेश में आकर वह खुद एक दूसरे भ्रम में पड़ने जा रहा है और धीरे-धीरे इस सिद्धान्त की ओर झुकता जा रहा है कि केवल कुछ ही चीजें कविता का विषय हो सकती हैं। प्रगति शब्द में जो नया अर्थ ठूँसा गया है उसके फलस्वरूप हल और फावड़े कविता के सर्वोच्च विषय सिद्ध किये जा रहे हैं और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयों में उतरनेवाले कवि सिर उठा कर नहीं चल सकें।

काव्य का साम्राज्य निर्बन्ध है और उसमें किसी के प्रवेश का निषेध नहीं हो सकता। राल्सरायस या ट्राम को कवि के स्वप्न में आने का उतना ही अधिकार है जितना गुलाब को; लेकिन, दोनों में से कोई भी अपने वैज्ञानिक रूप के कारण काव्य में नहीं आ सकता।

साहित्य में बहुज्ञता उपयोगी है, लेकिन उसका प्रदर्शन बड़ा ही भयावह। साहित्य की रचना में 'हम क्या कहें' इस चिन्ता का महत्त्व उतना नहीं है जितना इसका कि 'हम क्या नहीं कहें।' रचना करते समय शब्दों की भीड़ को, भावों के मेले को काव्य में उतरने से रोकना पड़ता है। लेकिन, इस नियंत्रण के बावजूद भी जो शब्द, जो भाव और जो पदार्थ कविता में आकर ही दम लें उन्हीं से सत्कवित्व और जीवित साहित्य तैयार होता है। इस नियंत्रण को मानते हुए अगर राल्सरायस काव्य में घुस पड़े तो यह समझना चाहिए कि उसने काव्य में आने का सच्चा मार्ग पा लिया है।

किसी भी युग में कविता के महत्त्व का कारण उसका कवि हुआ करता है जो अपने ही युग में दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक जीवित और अधिक चैतन्य होता है। प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा किया करता है, क्योंकि कवि के आगमन के साथ इस बात का पता चल जाता है कि उस युग की भावनाएँ किस ऊँचाई तक बढ़ी हैं। कवि वह विन्दु है जहाँ समसामयिक ज्ञान के विस्तार की सीमा बाँधी जाती है। मनुष्य-जाति का प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक उल्लास, प्रत्येक त्रास और प्रत्येक भावना अपने समय के कवि पर अपना प्रभाव डालती है। संसार के हृदय का प्रत्येक स्पन्दन कवि की बहुमुखी एवं संवेदनशील चेतना में सिहरन पैदा करता है। कवि को हम अपनी पीढ़ी की वाणी इसीलिए कहते हैं चूँकि वह हमारे हृदयों में अज्ञात रूप से बसनेवाली

संज्ञाहीन तथा अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देता है। अपने देश नहीं, बल्कि अपने समय का मनुष्य होने के कारण वह समसामयिक भावनाओं को जिस प्रकार हृदयङ्गम कर सकता है, वैसा दूसरे लोग नहीं कर सकते! अपने हृदय से ही हम कवि की भावना की दिशा का अन्दाज कर सकते हैं। अगर हमारे हृदयों में आज वैज्ञानिक आविष्कार किसी नवीन काव्य के बीज बो रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि उनका मूर्त रूप कवि की वाणी में प्रकट नहीं होगा। कवि—जैसे संवेदनशील प्राणी को न तो गुलाब पर लिखने को वाध्य करना चाहिए और न ट्राम पर। उसकी कला की सबसे बड़ी विजय यह है कि अपनी शैली से वह यह दिखला दे कि अपने युग में वह पूर्ण रूपसे जीवित था। कवि के इस प्रकार जीवित रहने का प्रमाण भगवती बाबू की भैंसागाड़ी ने दिया है और दिया है गुप्तजी की इन पंक्तियों ने—

> राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
> तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।

जिनमें राम के ईश्वरत्व के विषय का साम्प्रतिक सन्देह एक आस्तिक कवि के मुख से अनायास ही व्यक्त हो गया है—इसलिए नहीं कि कवि उस सन्देह में कोई तत्त्व देखता है, बल्कि इसलिए कि समय ने बरबस यह बात उसके मुख में रख दी है।

इस छोटी-सी दलील के बाद मुझे आश्वस्त होना चाहिए कि 'रसवन्ती' प्रगतिकामियों के भी निरादर की वस्तु नहीं ठहरेगी और इसे वह प्रेम सहज ही प्राप्त हो जायगा जिसकी यह अधिकारिणी है। मुझमें इतनी हिम्मत नहीं कि 'स्वान्तः सुखाय' कहकर पाठकों से छुट्टी लेलूँ; क्योंकि आत्म-सुख के साथ मैं उनकी प्रसन्नता के लिए भी लिखता हूँ और पाठकों की प्रसन्नता से मेरा अपना सुख, अधिक नहीं तो दूना तो अवश्य हो जाता है। 'रसवन्ती', एक तरह से, मेरा नूतन प्रयोग है। अपने आलोचकों से मैं निवेदन करूँगा कि इसमें अगर कोई अपरिपक्वता झलके तो वे मुझे कृपापूर्वक क्षमा करेंगे, क्योंकि अपनी कृति में असफल हो जाने से बढ़कर कलाकार के लिए दूसरा दण्ड नहीं है। यों मैंने सुन रक्खा है कि साहित्य में कवि की परीक्षा का अर्थ है या तो उसे आसमान पर चढ़ा देना या फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करके पैरों से मसल देना। स्वभाव से ही, पत्रकारों के हिस्से में पहला और आलोचकों के हिस्से में दूसरा काम पड़ा है।

एक बात मौलिकता के सम्बन्ध में भी, जिसके अभाव से महाकवियों की शक्ति और छोटे कवियों की दुर्बलता की वृद्धि होती है। मुझे कवि ईलियट की

इस उक्ति में बड़ा तथ्य दीखता है कि "सर्वथा मौलिक रचनाएँ सर्वथा हेय हैं और उन्हें बुरे अर्थ में Subjective कहना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार के संसार का उन्हें हृदय छूना है उसके साथ उनका कोई सरोकार नहीं रहता।" विश्व-साहित्य की सब से अधिक लोकप्रिय कृतियों में पूर्वागत सामग्री का सबसे अधिक उपयोग हुआ है और परम्परा से सर्वथा भिन्न बातें कहनेवालों की अपेक्षा प्राचीन बातों को भी सर्वथा नवीन ढंग से कहनेवाले लोग अधिक सफल और बलवान समझे गये हैं। सर इकबाल के 'जावेदनामा' का जन्म दान्ते की प्रेरणा से हुआ और कविगुरु श्रीरवीन्द्रनाथ पर वैष्णवों, अँगरेज रोमांटिक कवियों और कालिदास का सीधा तथा स्पष्ट प्रभाव है। नानापुराण-निगमागम-सम्मत श्रीरामचरितमानस को तो छोड़िए, स्वयं कालिदास पर, सम्भवतः, अश्वघोष और भास का ऋण है तथा रामचरितमानस और सर एडविन की "लाइट आव् एशिया" के अनुकरण पर नये ग्रन्थ बनते ही चले जा रहे हैं। पूर्वागत संस्कार से रस-ग्रहण किये बिना समाज के हृदय का सान्निध्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। लोकप्रियता उन्हीं रचनाओं को मिलती है जिनकी शैली और भाव, दोनों, के बीज समाज के हृदय में पहले से ही प्रच्छन्न रहते हैं। सफल रचना वह है जिसे सुनकर श्रोता कह उठे कि उसके मन में भी ठीक वे ही बातें थीं अथवा यों कि "यह बात कितनी सत्य लगती है, लेकिन मुझे अबतक नहीं सूझी थी।"

समय से बहुत आगे बढ़कर कहना बड़ी जोखिम का काम है और संप्रति भारतवर्ष में इसे झेलनेवाले साहसी कवि केवल निरालाजी हैं। हिन्दी-काव्य का विकास उनकी निर्दिष्ट दिशा में होता जायेगा या नहीं, यह न तो वे ही कह सकते हैं और न कोई और; फिर भी अपने निर्मित मार्ग पर वे दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हैं। भारतीय साहित्य में कवि के आत्मविश्वास और साहस का यह एक अद्भुत उदाहरण है।

साहित्य के अन्दर सम्पूर्ण नवीनता का प्रश्न न तो सरल समझा जाना चाहिए और न वांछनीय। विभिन्न कवियों के द्वारा एक ही भाव के पूर्वापर प्रयोगों से यह सिद्ध है कि पहले के प्रयोगों पर कुछ उन्नति करना, यही सच्ची मौलिकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि मौलिकता जहाँ अत्यन्त प्रखर थी, समालोचकों ने वहीं सबसे कठोर दंड भी दिया।

जिस भावना ने एक कवि की कृति को कोई सुन्दर रूप दिया है, वही दूसरे के लिए भी प्रेरक सिद्ध हो सकती है। दीपक के संयोग से दीप जलता है, त्यों ही एक रचना दूसरी रचना को जन्म देती है। मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि मैं अपने पूर्ववर्ती महाकवियों का उतना ही ऋणी हूँ जितना हिमालय अथवा हिन्दमहासागर का। हाँ, यह ठीक है कि जिस प्रकार मैं हिमा-

लय से कुछ माँगने नहीं गया था, उसी प्रकार, तुलसी, सूर, कबीर अथवा रवीन्द्र और इकबाल से भी मैं ने कोई याचना नहीं की। हिमालय नाम में जो कुछ दिव्यता है, वह मेरे मन में अनायास और अज्ञातरूप से कब, किस दिन बस गई, इसका पता नहीं ; जाना तब जब एक रात सहसा मेरे स्वर में हिमालय बोलने लगा। इस प्रकार, किस कवि के कौन-से विचार किस दिन मेरी मनोभूमि में गिर गये, इसकी खबर नहीं रही। बरसों बाद मौसिम आने पर जब उनके अंकुर निकले तब मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनकी हरीतिमा में मेरे ही प्राणों का रस लहरा रहा था।

जो बात मौलिकता के विषय में, वही कला की सूक्ष्मता के संम्बन्ध में भी। कला की विशेषता काव्य-द्रव्य को भली भांति प्रकट करने में है और जहाँ द्रव्य है वहीं शैली की भी शोभा है। कुछ नहीं कहने का ढंग कभी भी आकर्षक नहीं हो सकता। सूक्ष्मता की उपासना के प्रयास में कविता जिस प्रकार अशक्त होती जा रही है वह साहित्य के लिए दुर्भाग्य की बात है। श्रोताओं की काफी बड़ी संख्या के बिना कोई भी काव्य, शायद ही, जीवित रह सकता है और आज के साहित्य में कवियों और पाठकों के बीच एक खाई-सी बनती जा रही है। अधिकांश पाठकों के सांस्कृतिक स्तर को अनुन्नत मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि इस अवांछनीय अवस्था का बहुत बड़ा दायित्व काव्य-कला के विशिष्टीकरण के प्रयास पर है। और, अभी इस दोष का कोई परिहार भी नहीं दीखता, क्योंकि विशिष्टीकरण वर्त्तमान सभ्यता के विकास-क्रम में ही निहित-सा है तथा साहित्य, चित्रकला एवं काव्य बड़ी तेजी के साथ विशिष्ट होते चले जा रहे हैं। घिसते-घिसते कला इतनी बारीक हो गई है कि आज की श्रेष्ठ रचनाएँ तभी आनन्द दे सकती हैं जब पाठक ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर चढ़कर उनकी ओर मुखातिब हो सके। पहले की रचनाएँ ऐसी नहीं थीं। उनके आनन्द के स्तर एक नहीं—अनेक होते थे और प्रत्येक पाठक अपनी योग्यता के अनुसार उनका रस प्राप्त कर सकता था। मेरा अभिप्राय उस भेद से है जो 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' के बीच विद्यमान है।

एक ओर तो हमारे वर्त्तमान आचार्य्य छिल्का छीलकर बीज-मात्र कहने की शैली का प्रचार कर रहे हैं, दूसरी ओर, पाठकों का विशाल समुदाय भूलकर भी सूक्ष्मताओं को समझने की कोशिश नहीं करता। 'उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्म्मा' के उपासक कवि यह सोचकर निश्चिन्त हैं कि पाठकों को कभी न कभी सूक्ष्मता के स्तर तक पहुँचना ही पड़ेगा और श्रोताओं को यह संतोष है कि कविताएँ समझने के लिए मानसिक व्यायाम किये बिना भी उनके दैनिक जीवन में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। पाठकों का जो रुख है और काव्य-कला जिस

तेजी के साथ बारीक होती जा रही है, उसे देखते हुए यह कहना कठिन है कि भविष्य में कविता का महत्त्व क्या रह जायगा। विशिष्टता और बारीकी ने वर्त्तमान अँगरेजी कविता का जो हाल कर रक्खा है उसे देखते हुए यह प्रस्ताव उपयोगी दीखता है कि पाठकों को बीज के साथ कुछ छिलके भी दिये जायँ

सीतामढ़ी
जन्माष्टमी, १९४०

दिनकर

रसवन्ती

गीत-शिशु

आशीर्वचन कहो मंगलमयि, गायन चले हृदय से,
दूर्वासन दो अवनि! किरण मृदु, उतरो नील निलय से।
बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया ये वे मुकुल हमारे,
जो अब तक बच रहे किसी विधि ध्वंसक इष्ट - प्रलय से।

ये अबाध कल्पक के शिशु क्या रीति जगत की जानें,
कुछ फूटे रोमाञ्च - पुलक से, कुछ अस्फुट विस्मय से।
निज मधु - चक्र निचोड़ लगन से पाला इन्हें हृदय ने,
बड़े नाज से, बड़ी साध से, ममता, मोह, प्रणय से।

चुन अपरूप विभूति सृष्टि की मैंने रूप सँवारा,
उडु से द्युति, गति बाल लहर से, सौरभ रुचिर मलय से।
सोते - जगते मृदुल स्वप्न में सदा किलकते आये,
नहीं उतारा कभी अङ्क से कठिन भूमि के भय से।

नन्हें अरुण चरण ये कोमल, क्षिति की परुष प्रकृति है,
मुझे सोच, पड़ जाय कहीं पाला न कुलिश निर्दय से।
अर्जित किया ज्ञान कब इनने, जीवन का दुख झेला?
अभी अबुध ये खेल रहे थे रजकण के संचय से।

सीख न पाये रेणु-रत्न का भेद अभी ये भोले,
मुट्ठी भर मिट्टी बदलेंगे कञ्चन-रचित वलय से।
कुछ न सीख पाये, तो भी रुक सके न पुण्य-प्रहर में,
घुटनों बल चल पड़े, पुकारा तुमने देवालय से।

रुन-झुन-झुन पैंजनी चरण में, केश कुटिल घुँघराले,
नील नयन देखो माँ! इनके दाँत धुले हैं पय से।
देख रहे अति चकित रत्न-मणियों के हार तुम्हारे,
विस्फारित निज नील नयन से, कौतुक-भरे हृदय से।

कुछ विस्मय, कुछ शील दृगों में, अभिलाषा कुछ मन में,
पर, न खोल पाते मुख लज्जित प्रथम-प्रथम परिचय से।
निपुण गायकों की रानी, इनकी भी एक कथा है,
सुन लो, क्या कहने आये हैं ये तुतली-सी लय से।

छूकर भाल वरद कर से, मुख चूम विदा दो इनको;
आशिष दो ये सरल गीत-शिशु विचरें अजर-अजय-से।
दिशि-दिशि विविध प्रलोभन जग में, मुझे चाह बस इतनी,
कभी निनादित द्वार तुम्हारा हो इनकी जय-जय से।

०००

रसवन्ती

अरी ओ रसवन्ती सुकुमार !

(१)

लिये क्रीड़ा - वंशी दिन - रात
पलातक शिशु - सा मैं अनजान,
कर्म के कोलाहल से दूर
फिरा गाता फूलों के गान।

कोकिलों ने सिखलाया कभी
माधवी - कुञ्जों का मधु राग,
कण्ठ में आ बैठी अज्ञात
कभी बाड़व की दाहक आग।

पत्तियाँ फूलों की सुकुमार
गईं हीरे - से दिल को चीर,
कभी कलिकाओं के मुख देख
अचानक ढुलक पड़ा दृग - नीर।

तृणों में कभी खोजता फिरा
विकल मानवता का कल्याण,
बैठ खँडहर में करता रहा
कभी निशि-भर अतीत का ध्यान।

श्रवण कर चल-दल-सा उर फटा
दलित देशों का हाहाकार,
देखकर सिर पर मारा हाथ
सभ्यता का जलता शृङ्गार।

शाप का अधिकारी यह विश्व,
किरीचों का जिसको अभिमान,
दीन - दलितों के क्रन्दन - बीच
आज क्या डूब गए भगवान ?

तप्त मरु के सिंचन के हेतु
टटोला निज उर का रस-कोष ;
ओस के पीने से पर, हाय,
विश्व क्या पा सकता सन्तोष ?

विन्दु या सिन्धु चाहिए उसे,
हमें तो निज पर ही अधिकार ;
मुरलिका के रन्ध्रों में लिये
चला निज प्राणों का उपहार।

साधना की ज्वाला जब बढ़ी,
गया वासव का आसन डोल,
पूछने लगी मुझे पथ रोक
ठगिनि माया जीवन का मोल।

प्रिये रसवन्ती ! जग है कठिन,
मनुज दुर्बल, मानव लाचार,
परीक्षा को आया जब विश्व,
गया जीवन की बाजी हार।

द्वार कारा का बीचोंबीच
इधर मैं बन्दी, तुम उस आर,
प्रिये ! तब भी ममता से हाय,
खींचती क्यों मेरा पट - छोर ?

प्रणय उससे कैसा यह जो कि
गया पहली ही बाजी हार ?
चीखती क्यों ले - ले कर नाम
अरी ओ रसवन्ती सुकुमार ?

: २ :

दुखों की सुख में स्मृतियाँ मधुर,
सुखों की दुख में स्मृतियाँ शूल ;
विरह में किन्तु, मिलन की याद
नहीं मानव - मन सकता भूल।

याद है वह पहला मधुमास,
कोरकों में जब भरा पराग,
शिराओं में जब तपने लगी
अर्द्ध - परिचित - सी कोई आग।

एक क्षण कोलाहल के बीच
पुलक की शीतलता में मौन,
सोचने लगा हृदय में आज
हुआ नूपुर मुखरित यह कौन ?

खोल दृग देखा प्राची - ओर
अलक्तक - चरणों का शृङ्गार,
तुम्हारा नव, उद्वेलित रूप,
व्योम में उड़ता कुन्तल - भार

उठा मायाविनि ! अन्तर - बीच
कल्पना का कल्लोलित ज्वार,
लगा सद्यःस्फुट पाटल - सदृश
दृगों को मोहक यह संसार।

लगी पृथ्वी आँखों को देवि !
सिक्त सरसीरुह - सी अम्लान ;
कूल पर खड़ी हुई - सी निकल
सिन्धु में करके सद्यःस्नान।

ग्रहण कर उस दिन ही सुकुमारि,
तुम्हारे स्वर्णांचल का छोर,
खोजने तृषितों का कल्याण
चला मैं अमृत - देश की ओर।

गिरे थे जहाँ धर्म के बीज,
उगा था जहाँ कभी भी ज्ञान,
वहाँ की मिट्टी पर हम चले
प्रणति में झुकते एक - समान।

पन्थ में दूर्वा से सज तुम्हें
पिन्हाया गंगा का गलहार,
शीश पर हिम-किरीट रख किया
देश की मिट्टी से शृङ्गार।

विमूर्च्छित हुई तपोवन - बीच
कराया निर्झर का जल पान ;
बोधि - तरु की छाया में बाँह
हुई शुचि बनकर तव उपधान।

धरा का जिस दिन सौरभ-कोष
खोलने लगी प्रथम बरसात,
न जानें क्यों नालन्दा – बीच
रहे रोते हम सारी रात।

प्रेम-बिरवा आँगन में रोप
रहे थे हम जब हिल-मिल सींच,
अचानक कुटिल नियति ने मुझे
लिया उस दिव्य लोक से खींच।

अचानक हम दोनों के बीच
पड़ा आकर माया-व्यवधान ;
रचा मेरे बन्धन के हेतु
भीषिकाओं ने दुर्ग महान।

प्रकम्पित कर सारा ब्रह्माण्ड
किया प्राणों ने जब चीत्कार ;
विहँसने लगा व्यंग्य से विश्व,
अरी ओ रसवन्ती सुकुमार !

: ३ :

बन्धनों से होकर भयभीत
किन्तु, क्या हार सका अनुराग ?
मानकर किस बन्धन का दर्प
छोड़ सकती ज्वाला को आग ?

पुष्प का सौरभ से सम्बन्ध
छुड़ा सकता कोई व्यवधान ?
कौन सत्ता वह जिसको देख
रश्मि को तज सकता दिनमान ?

आपदाएँ सौ बन्धन डाल
प्रेम का कर सकतीं अपमान ?
यहाँ शापित यक्षों के रोज
उड़ा करते अम्बर में गान।

उठेगा व्याकुल, दुर्दमनीय
क्षुब्ध होकर जब पारावार,
रुद्ध होगा कैसे हे देवि !
धृष्ट शैलों से कण्ठद्वार ?

फोड़ दूँगा माया का दुर्ग,
तोड़ दूँगा यह वज्र-कपाट,
व्योम में गाने को जिस रोज
बुलायेगा निर्बन्ध - विराट।

मिटा दूँगा ब्रह्मा का लेख,
फिरा लूँगा खोया निज दाँव,
चलूँगा निज बल हो निःशंक
नियति के सिर पर देकर पाँव।

तरंगित सुषमाओं पर खेल
करूँगा देवि ! तुम्हारा ध्यान ;
दुखों की जलधारा में भींग
तुम्हारा ही गाऊँगा गान।

सजेगा जिस दिन उत्सव - हेतु
देश-माता का तोरण - द्वार ;
करेंगे हम ले मङ्गल - शंख
उदय का स्वागत - मंत्रोच्चार।

निखिल जन्मों में जिस पर देवि !
चढ़ाये हमने तन, मन, प्राण,
सुनेंगे हवन-हेतु इस बार
एक दिन फिर उसका आह्वान।

काल-नौका पर हो आरूढ़
चलेंगे जिस दिन प्रभु के देश,
विश्व की सीमा पर सुकुमारि,
करेंगे हम तुम संग प्रवेश।

चकित होंगे सुनकर गन्धर्व
तुम्हारी दूरागत मृदु तान,
श्रवण कर नूपुर की झंकार
भग्न होगा रम्भा का मान।

'स्वर्ग से भी सुन्दर यह कौन ?'
करेंगे सुर जब चकित पुकार,
कहूँगा मैं, "दिव से भी मधुर
विश्व की रसवन्ती सुकुमार।"

गीत-अगीत

गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(१)

गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता—
"देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता।"

गा - गा कर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोंते पर छाया देती,
पंख फुला नीचे खोंते में
शुकी बैठ अंडे है सेती।

गाता शुक जब किरण बसन्ती
छूती अङ्ग पर्ण से छन कर,
किन्तु, शुकी के गीत उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर।

गूँज रहा शुक का स्वर वन में,
फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?

(३)

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिपकर सुनती है,
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
बिधना', यों मन में गुनती है।

वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?

०००

बालिका से वधू

माथे में सेंदुर पर छोटी
दो बिन्दी चमचम - सी,
पपनी पर आँसू की बूँदें
मोती - सी, शबनम-सी।

लदी हुई कलियों से मादक
टहनी एक नरम - सी,
यौवन की बिनती-सी भोली,
गुमसुम खड़ी शरम - सी।

पीला चीर, कोर में जिसकी
चकमक गोटा - जाली,
चली पिया के गाँव उमर के
सोलह फूलों वाली।

पी चुपके आनन्द, उदासी
भरे सजल चितवन में,
आँसू में भींगी माया
चुपचाप खड़ी आँगन में।

आँखों में दे आँख हेरती
हैं उसको जब सखियाँ,
मुस्की आ जाती मुख पर,
हँस देतीं रोती अँखियाँ।

पर, समेट लेती शरमाकर
बिखरी - सी मुसकान,
मिट्टी उकसाने लगती है
अपराधिनी - समान।

भींग रहा मीठी उमङ्ग से
दिल का कोना - कोना,
भीतर-भीतर हँसी देख लो,
बाहर – बाहर रोना।

तू वह, जो झुरमुट पर आई
हँसती कनक - कली - सी,
तू वह, जो फूटी शराब की
निर्झरिणी पतली - सी।

तू वह, रच कर जिसे प्रकृति
ने अपना किया सिंगार,
तू वह जो धूसर में आई
सबुज रंग की धार।

माँ की ढीठ दुलार ! पिता की
ओ लजवन्ती भोली,
ले जायगी हिया की मणि को
अभी पिया की डोली।

कहो, कौन होगी इस घर की
तब शीतल उजियारी ?
किसे देख हँस - हँस कर
फूलेगी सरसों की क्यारी ?

वृक्ष रीझकर किसे करेंगे
पहला फल अर्पण - सा ?
झुकते किसको देख पोखरा
चमकेगा दर्पण - सा ?

किसके बाल ओज भर देंगे
खुलकर मन्द पवन में ?
पड़ जायेगी जान देखकर
किसको चन्द्र - किरन में ?

महँ - महँ कर मंजरी गले से
मिल किसको चूमेगी ?
कौन खेत में खड़ी फ़सल
की देवी - सी झूमेगी ?

बनी फिरेगी कौन बोलती
प्रतिमा हरियाली की ?
कौन रूह होगी इस धरती
फल - फूलों वाली की ?

हँसकर हृदय पहन लेता जब
कठिन प्रेम - जंजीर,
खुलकर तब बजते न सुहागिन,
पाँवों के मंजीर।

घड़ी गिनी जाती तब निशिदिन
उँगली की पोरों पर,
प्रिय की याद झूलती है
साँसों के हिंडोरों पर।

पलती है दिल का रस पीकर
सबसे प्यारी पीर,
बनती और बिगड़ती रहती
पुतली में तसवीर।

पड़ जाता चस्का जब मोहक
प्रेम - सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है
दुनिया में जीने का।

मंगलमय हो पन्थ सुहागिन,
यह मेरा वरदान ;
हरसिंगार की टहनी - से
फूलें तेरे अरमान।

जगे हृदय को शीतल करने-
वाली मीठी पीर,
निज को डुबो सके निज में,
मन हो इतना गंभीर।

छाया करती रहे सदा
तुझको सुहाग की छाँह,
सुख - दुख में ग्रीवा के नीचे
हो प्रियतम की बाँह।

पल-पल मङ्गल-लग्न, जिन्दगी
के दिन-दिन त्यौहार,
उर का प्रेम फूटकर हो
आँचल में उजली धार।

००
०

प्रीति

(१)

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !
पल-भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक-गोधूलि-लगन सखि !

प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक-मगन सखि !

(२)

प्रीति न पूर्ण चन्द्र जगमग सखि !
जो होता नित क्षीण, एक दिन
विभा-सिक्त करके अग-जग सखि !

दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि !
शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती
बढ़ती ही जाती पग-पग सखि !

(३)

मन की बात न श्रुति से कह सखि !

बोले प्रेम विकल होता है,
अनबोले सारा दुख सह सखि !

कितना प्यार ? जान मत यह सखि !

सीमा, बन्ध, मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह सखि !

(४)

तृणवत् धधक-धधक मत जल सखि !

ओदी आँच धुनी विरहिन की,
नहीं लपट की चहल-पहल सखि !

अन्तर्दाह मधुर मंगल सखि !

प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे, जो
सुलग रहा तिल-तिल, पल-पल सखि !

दाह की कोयल

दाह के आकाश में पर खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(१)

दर्द में भींगी हुई - सी तान,
होश में आता हुआ - सा गान ;
याद आई जीस्त की बरसात,
फिर गई दृग में उजेली रात ;
काँपता उजली कली का वृन्त,
फिर गया दृग में समग्र वसन्त।
मुँद गईं पलकें, खुले जब कान,
सज गया हरियालियों का ध्यान ;
मुँद गईं पलकें कि जागी पीर,
पीर, बिछुड़ी चीज की तसवीर।
प्राण की सुधि-ग्रन्थि भूली खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(२)

दूर छूटी छाँहवाली डाल,
दूर छूटी तरु - द्रुमों की माल ;

दूर छूटा पत्तियों का देश,
तलहटी का दूर रम्य प्रदेश;
कब सुना, जानें न, जल का नाद,
कब मिलीं कलियाँ, नहीं कुछ याद।
ओस-तृण को आज सिर्फ बिसूर
चल रहा मैं बाग-वन से दूर।
शीश पर जलता हुआ दिनमान,
और नीचे तप्त रेगिस्तान।
छाँह-सी मरु-पन्थ में तब डोल
कौन तुम बोली पिकी के बोल?

(३)

बालुओं का दाह मेरे ईश!
औ' गुमरते दर्द की यह टीस!
सोचता विस्मित खड़ा मैं मौन,
खोजती आई मुझे तुम कौन?
कौन तुम, ओ कोमले अनजान?
कौन तुम, किस रोज की पहचान?
हाँ, जरा-सी याद भूली बात,
दूध की धोई उजेली रात;
जब किरन-हिंडोर पर सामोद
स्यात्, भूली बैठ मेरी गोद।
या कहीं ऊषा-गली में प्रान!
घूमते तुमसे हुई पहचान।
तारकों में या नियति की बात
पढ़ रहा था जब कि पिछली रात,

तुम मिली ओढ़े सुवर्ण - दुकूल,
भोर में चुनते विभा के फूल।
भूमि में, नभ में कहीं ओ प्रान!
याद है, तुमसे हुई पहचान।

(४)

याद है, तुम तो सुधा की धार,
याद है, तुम चाँदनी सुकुमार।
याद है, तुम तो हृदय की पीर,
याद है, तुम स्वप्न की तसवीर।
याद है, तुम तो कमल की नाल,
मंजरी के पास वाली नम कोंपल लाल।

इन्द्र की धनुषी, सजल रंगीन,
खोजती किसको दहकती वायु में उड्डीन ?

दाह के आकाश में पर खोल
बोलने आई पिकी के बोल।

(५)

चिलचिलाती धूप का यह देश,
कल्पने! कोमल तुम्हारा वेश।
लाल चिनगारी यहाँ की धूल,
एक गुच्छा तुम जुही के फूल।
दाह में यह ब्याह का संगीत!
भूल क्या सकती न पिछली प्रीत?

पड़ चुका है आग में संसार,
आज तुम असमय पधारी, क्या करूँ सत्कार ?
मेरी बावली मेहमान !
शेष जो अब भी उसे निज को समर्पित जान।
रूह में आशा हरी सुकुमार,
दाह के आकाश में मन्दाकिनी की धार ;
धूप में उड़ती हुई शबनम अरी अनमोल !
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

०००

नारी

खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना - सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक - से मेरे गान।

तिमिर में ज्योति-कली को देख
सुविकसित, वृन्तहीन, अनमोल ;
हुआ व्याकुल सारा संसार,
किया चाहा माया का मोल।

हो उठी प्रतिभा सजग, प्रदीप्त,
तुम्हारी छवि ने मारा वाण ;
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव,
सिहरने लगे सुकवि के प्राण।

लगे रचने निज उर को तोड़
तुम्हारी प्रतिमा प्रतिमाकार,
नाचने लगी कला चहुँ - ओर
भाँवरी दे - दे विविध प्रकार।

ज्ञानियों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नख-ज्योति
पुरुष उन चरणों का उपहार।

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृषित 'सत्-चित्' ने पाई पूर्त्ति;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि!
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्त्ति।

कुशल विधि के मन की नवनीत,
एक लघु दिव-सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य—
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल-पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त
शिथिल गिर गए धनुष औ' वाण।

हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह - विजयी बर्बर लाचार,
रूप के एक तन्तु में नारि,
गया बँध मत्त गयन्द - कुमार।

एक चितवन के शर ने देवि !
सिन्धु को बना दिया परिमेय,
विजित हो दृग-मद से सुकुमारि !
झुका पद-तल पर पुरुष अजेय।

कर्मियों ने देखा जब तुम्हें,
टूटने लगे शम्भु के चाप।
बेधने चला लक्ष्य गांडीव,
पुरुष के खिलने लगे प्रताप।

हृदय निज फरहादों ने चीर
बहा दी पय की उज्ज्वल धार,
आरती करने को सुकुमारि !
इन्दु को नर ने लिया उतार।

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक-मृग पर होकर हत-ज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान।

विकल उर को मुरली में फूँक
प्रियक - तरु - छाया में अभिराम,
बजाया हमने कितनी बार
तुम्हारा मधुमय 'राधा' नाम।

कढ़ी यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि!
पिये हमने सीकर अनमोल!

तुम्हारे अधरों का रस प्राण!
वासना - तट पर पिया अधीर;
अरी ओ माँ, हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

पिया शैशव ने रस - पीयूष,
पिया यौवन ने मधु-मकरन्द;
तृषा प्राणों की पर हे देवि!
एक पल को न सकी हो मन्द।

पुरुष पँखुड़ी को रहा निहार
अयुत जन्मों से छवि पर भूल,
आज तक जान न पाया नारि!
मोहिनी इस माया का मूल।

न छू सकते जिसको हम देवि!
कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;
भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय।

तैरती स्वप्नों में दिन - रात
मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे - पीछे नारि !
रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।

अगुरु-धूम

कल मुझे पूजकर चढ़ा गया
अलि, कौन अपरिचित हृदय-हार ?
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(१)

श्रुति को इतना भर याद, भिक्षु
गुनगुना रहा था मर्म्म-गान,
"आ रहा दूर से मैं निराश,
तुम दे पाओगी तृप्ति-दान ?
यह प्रेम-बुद्ध के लिए भीख,
चाहिए नहीं धन, रूप, देह,
मैं याच रहा बलिदान पूर्ण,
है यहाँ किसी में सत्य स्नेह ?
पुरनारि ! तुम्हारे ग्राम-बीच
भगवान पड़े हैं निराहार।"
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(२)

सिहरा जानें क्यों मुझे देख,
बोला—"पूजेगी आज आस;
पहचान गया मैं सिद्धि देवि!
हो तुम्हीं यज्ञ का शुचि हुताश।
मैं अमित युगों से हेर रहा,
देखी न कभी यह विमल कान्ति,
ऐसी स्व-पूर्ण भ्रू-बँधी तरी,
ऐसी अमेय, निर्मोघ शान्ति।

नभ-सदृश चतुर्दिक् तुम्हें घेर
छा रहे प्रेम-प्रभु निराकार।"
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(३)

अपनी छवि में मैं आप लीन
रह गई विमुख, करते विचार—
'वाणी प्रशस्ति की नई सीख
आया फिर कोई चाटुकार।'
पर, वीतराग - निभ चला भिक्षु,
रचकर मेरा अर्चन - विधान;
कह, "चढ़ा चुका मैं पुष्प, अधिक
अब और सिद्धि क्या मूल्यवान?

फिर कभी खोजने आऊँगा, पद
पर जो रख जा रहा प्यार।"

मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(४)

"अब और सिद्धि क्या मूल्यवान?"
मैं चौंक उठी सहसा अधीर;
फट गया गहन मन का प्रमाद,
आ लगा वह्नि का प्रखर तीर।
उठ विकल धूम के बीच दौड़
बोलूँ जबतक, "ठहरो किशोर!"
तबतक स्व-सिद्धि को शिला जान
था चला गया साधक कठोर।

मैंने देखा वह धूम-जाल,
मैंने पाया वह सुमन-हार;
पर, देख न पाई उन्हें सजनि!
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(५)

तुम तो पथ के चिर-पथिक देव!
कब ले सकते किस घर विराम?
मैं हो न हाय, पहचान सकी
करगत जीवन का स्वर्णयाम।
है तृषित कौन? है जलन कहाँ?
मेघों को इसका नहीं ध्यान;
यह तो मिट्टी का भाग्य, कभी
मिल जाता उसको अमृत-दान।

फिरता न कभी मधुमास वही
शत हृदय खिलाकर एक बार ;
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(६)

चरणों पर कल जो चढ़ा गए
तुम देव ! हृदय का मधुर प्यार,
मन में, पुतली में उसे सजा
मैं आज रही धो बार-बार ;
जो तुम्हें एक दिन देख नहीं
पाई अपने श्रम में विभोर,
आकर सुन लो टुक आज उसी
पाषाणी का क्रन्दन किशोर !

छिपकर तुम पूज गए उस दिन,
छिपकर उस दिन मैं गई हार ;
पर छिपा सकेगा अश्रु-ज्योति
क्या आज अगुरु का अन्धकार ?

(७)

कल छोड़ गए जो दीप द्वार पर,
उर पर वह आसीन आज ;
साधना - चरण की रेणु - हेतु
है विकल सिद्धि अति दीन आज ;

मन की देवी को फूल चढ़ा,
चाहिए तुम्हें कुछ नहीं और;
पर, विजित सिद्धि के लिए कहाँ
साधक - चरणों के सिवा ठौर ?

मैं भेद न सकती तिमिर-पुंज,
तुम सुन सकते न करुण पुकार;
साधना - सिद्धि के बीच हाय,
छा रहा अगुरु का अन्धकार।

(८)

मैं रह न गई मानवी आज,
देवी कह तुमने की न भूल;
अन्तर का कञ्चन चमक उठा,
जल गई मैल, झर गई धूल;
नव दीप्ति लिए नारीत्व जगा
यह पहन तुम्हारी विजय - माल;
कुछ नई विभा ले फूल उठी
जीवन - विटपी की डाल - डाल।

देखे जग मुझमें आज स्त्रीत्व
का महामहिम पूर्णावतार;
मैं खड़ी, चतुर्दिक् मुझे घेर
छा रहा अगुरु का अन्धकार।

(९)

कल सौंप गए जो मुझे प्रेम,
देखो उसका शृङ्गार आज;

मैं कनक-थाल भर खड़ी, बुद्ध-
हित ले जाओ उपहार आज;
सब भूल गई, कुछ याद नहीं
तरुणी के मद की बात आज;
आओ, पग छू हो जाऊँगी
रमणी मैं रातों-रात आज।

माँ की ममता, तरुणी का व्रत,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा करूँगी
भिन्न अगुरु का अन्धकार।

बह रही हृदय-यमुना अधीर
भर, उमड़ लबालब कोर-कोर,
आओ, कर लो नौका-विहार,
लौटो भिक्षुक, लौटो किशोर!

रास की मुरली

अभी तक कर पाई न सिँगार,
रास की मुरली उठी पुकार।

(१)

गई सहसा किस रस से भींग
वकुल-वन में कोकिल की तान ?
चाँदनी में उमड़ी सब ओर
कहाँ के मद की मधुर उफान ?
गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिलवसना रजनी के संग ;
सिहरते पग सकता न सँभाल
कुसुम-कलियों पर स्वयं अनंग !
ठगी-सी रुकी नयन के पास
लिये अञ्जन उँगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म,
रास की मुरली उठी पुकार।

(२)

रास की मुरली उठी पुकार।
साँझ तक तो पल गिनती रही,
कहीं तब डूब सका दिनमान ;

आँजने जिस क्षण बैठी आँख,
मधुर वेला पहुँची यह आन।
सुहागिनियों में चुनकर एक
मुझे ही भूल गए क्या श्याम ?
बुलाने को न बजाया आज
बाँसुरी में दुखिया का नाम।
बिताऊँ आज रैन किस भाँति ?
पिन्हाऊँ किसे यूथिका-हार ?
धरूँ कैसे घर बैठे धीर ?
रास की मुरली उठी पुकार।

(३)

रास की मुरली उठी पुकार।

उठी उर में कोमल हिल्लोल
मोहिनी मुरली का सुन नाद,
लगा करने कैसे तो हृदय,
पड़ी जानें कैसी कुछ याद !
सकूँगी कैसे स्वयं सँभाल
तरङ्गित यौवन का रसवाह ?
ग्रन्थि के ढीले कर सब बन्ध
नाचने को आकुल है चाह।
डोलती श्लथ कटि-पट के संग,
खुली रशाना करती झनकार,
न दे पायी कङ्कन में कील,
रास की मुरली उठी पुकार।

(४)

साज - शृंगार ?
छोड़ दौड़ो सब साज - सिँगार,
रास की मुरली रही पुकार।

अरी भोली मानिनि ! इस रात
विनय-आदर का नहीं विधान,
अनामन्त्रित अर्पण कर देह
पूर्ण करना होगा बलिदान।

आज द्रोही जीवन का पर्व,
नग्न उल्लासों का त्यौहार;
आज केवल भावों का लग्न,
आज निस्फल सारे शृङ्गार।

अलक्तक-पद का आज न श्रेय,
न कुंकुम की बेंदी अभिराम,
न सोहेगा अधरों में राग,
लोचनों में अञ्जन घनश्याम।

हृदय का संचित रंग उँड़ेल
सजा नयनों में अनुपम राग,
भींगकर नख-शिख तक सुकुमारि,
आज कर लो निज सुफल सुहाग।

पहन कर केवल मादक रूप
किरण - वसना परियों-सी नग्न

नीलिमा में हो जाओ बाल,
तारिकामयी प्रकृति - सी मग्न।

यूथिका के ये फूल बिखेर
पुजारिन ! बनो स्वयं उपहार,
पिन्हा बाँहों के मृदुल मृणाल
देवता की ग्रीवा का हार।

खोल बाँहें आलिङ्गन - हेतु
खड़ा सङ्गम पर प्राणाधार ;
तुम्हें कङ्कन - कुंकुम का मोह,
और यह मुरली रही पुकार।

रास की मुरली रही पुकार।
महालय का यह मंगल-काल,
आज भी लज्जा का व्यवधान ?
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति,
भेज दो अपने आकुल प्रान।

कहीं हो गया द्विधा में शेष
आज मोहन का मादक रास,
सफल होगा फिर कब सुकुमारि !
तुम्हारे यौवन का मधुमास ?

रही बज आमन्त्रण के राग
श्याम की मुरली नित्य-नवीन,

विकल-सी दौड़-दौड़ प्रतिकाल
सरित हो रही सिन्धु में लीन।

रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व
रूप पल - पल अरूप की ओर,
तीव्र होता ज्यों - ज्यों जयनाद,
बढ़ा जाता मुरली का रोर।

सनातन महानन्द में आज
बाँसुरी - कङ्कण एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व,
रास की मुरली रही पुकार।

मानवती

रूठ गई अबकी पावस के पहले मानवती मेरी,
की मैं ने मनुहार बहुत, पर, आँख नहीं उसने फेरी।
वर्षा गई, शरत आया, जल घटा, पुलिन ऊपर आये,
बसे बबूलों पर खगदल, फुनगी पर पीत कुसुम छाये।
आज चाँदनी देख न जाने मैं ने क्यों ऐसे गाया—
"अब तो हँसो मानिनी मेरी, वर्षा गई, शरत आया।

"तारों के श्रुति-फूल मनोहर,
कलियों का कंकन सुन्दर है।
मानिनि! यह तो चोर तुम्हारा,
तना हुआ जो नीलाम्बर है।

"चलो, करो शृङ्गार, बुलाती तुम्हें खंजनों की टोली,
आमन्त्रित कर रही विपिन की कली तुम्हारी हमजोली।
"उलर रही मंजरी कास की, हवा झूमती आती है,
राशि-राशि अवली फूलों की एक ओर झुक जाती है।
"उगा अगस्त्य, उतर आया सरसी में निर्मल व्योम सखी,
झलमल-झलमल काँप रहे हैं जल में उडु औ' सोम सखी।

"दिन की नई दीप्ति; हरियाली—
पर नूतन शोभा छाई है,
पावस-धौत धरा पर मानों,
चढ़ी नई यह तरुणाई है।

"आज खेलने नहीं चलोगी रानी, कासों के वन में?"
बोली कुछ भी नहीं, लोभ उपजा न मानिनी के मन में।

"रानी, आधी रात गई है,
घर हैं बन्द, दीप जलता है;
ऐसे समय रूठना प्यारी का
प्रिय के मन को खलता है।

मना रहा, 'आनन्द-सूत्र में ग्रन्थि डाल रोओ न लली!
ये मधु के दिन, इन्हें अकारण रूठ-रूठ खोओ न लली!
तुम सखि, इन्द्रपरी के तन में सावित्री का मन लाई,
ताप-तप्त मरु में मेरे हित शीत-स्निग्ध जीवन लाई।
जीवन के दिन चार, अवधि उससे भी अल्प जवानी की,
उस पर भी कितनी छोटी निशि होती प्रणय-कहानी की?
हम दोनों की प्रथम रात यह, आज करो मत मान प्रिये!
मिट न सकेगी कसक कभी, यदि यों ही हुआ विहान प्रिये।"

रानी, यह कैसी विपत्ति है?
जिस पर बीते, वही बखाने।
प्रिये, मान अपना तज कर द्रुत
उस मानिनि को चलो मनाने।

चलो शीघ्र, पौ फटे नहीं, उग जाय न कहीं अरुण रेखा।"
मानवती ने भ्रू समेट कर मेरी ओर तनिक देखा।

"प्रासादों से घिरी कुटी में
चिन्ता-मग्न खड़ी कविजाया

कोस रही वाणी के सुत को—
'टका सत्य है औ' सब माया।

गहनों से शोभा बढ़ती है, उदरपूर्त्ति है अन्नों से,
तुम्हें न जानें क्या मिलता लिपटे रहने में पन्नों से।
सुस्थिर हो दो बात करें, यह भी बाकी अरमान मुझे,
ऐसा क्या कुछ दे रक्खा, चाँदी-सोने की खान मुझे?'

गिरती कठिन गाज-सी सिर पर,
कवि का हृदय दहल जाता है;
आँसू पी, बरबस हँस - हँस कर
प्राण - प्रिया को समझाता है—

'बना रखूँ पुतली दृग की, निर्धन का यही दुलार सखी!
स्वप्न छोड़ क्या पास, तुम्हारा जिससे करूँ सिंगार सखी?
कहाँ रखूँ? किस भाँति? सोच यह तड़पा करता प्यार सखी!
नयन मूँद उर से चिपका लेता आखिर लाचार सखी!

घास-पात की कुटी हमारी,
किन्तु, तुम्हीं इसकी रानी हो;
क्या न तुम्हें सन्तोष किसी
कवि की वरदा तुम कल्याणी हो?

जलती हुई धूप है तो आँगन में वट की छाँह सखी!
व्यजन करूँ, सोओ सिर के नीचे ले मेरी बाँह सखी!
जरा पैठ मेरे अन्तर में सुनो प्रणय-गुञ्जार सखी!
देखो, मन में रचा तुम्हारे हित कैसा संसार सखी!'

यह अचरज मानिनि, तो देखो,
क्षुधा सौत भोली कविता की;

उलझ रही मकड़ी - जाली में
ज्योति परम पावन सविता की।

कलियाँ हृदय चीर टहनी का खिलने को अकुलाती हैं,
सह सकतीं न जलन, बाहर आते-आते जल जाती हैं।

घूम रही कल्पना अकेली
जग से दूर इन्द्र के पुर में;
कविजाया ने स्वर्ग न देखा
बसता जो प्रियतम के उर में।
अन्तर्दीप्त रूप निज प्रिय का
ग्रामबधू कैसे पहचाने ?
वाणी भी भिक्षुणी जगत में,
वह सीधी - भोली क्यों माने ?

जीवन की रसवृष्टि (पंक्ति कविवर की) क्यों चाँदी न हुई ?
कविजाया कहती, लक्ष्मी क्यों कविता की बाँदी न हुई ?

खोज रही आनन्द कल्पना
दूब, लता गिरिमाला में
कल्पक के शिशु झुलस रहे हैं
इधर पेट की ज्वाला में।

जिसके मूर्त्त स्वप्न भूखे हों, वह गायक कैसे गाए ?"
मानवती चुप रही, दृगों में करुणा के बादल छाए

नारी

[१]

पहन नील, किर्मीर वसन, तितली-से पंख लगाए,
उर-गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूँढ़ रही हो ?
भ्रू की रेखा सजा, राग से रँग कपोल-अधरों को,
मुकुर देख खिलखिला रही हो किस आसन्न विजय से ?
निरावरण, उद्दाम किरण-सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।
अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जाँचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।
दर्पण में, रंगों में, नर की भ्रमित - लुब्ध आँखों में,
देख रही सब में अपने को क्रम से बिठा-बिठा कर।
दाँतों-तले अधर को दाबे, कैसे उबलते मन को,
चलती हो ऐसे कि, देखती ही ज्यों नहीं किसी को।
लेकिन, सब को बचा काम करनेवाले वे लोचन
कहते हैं, तुम बिन देखे देखा करती बहुतों को।
तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलातीं कितनी आँखें,
बँधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।
मनःस्पर्श करती बहुतों का बलखाती चलती हो,
मन-ही-मन गिनती हो, लोहू काँप गया कितने का ?

सच है, अभी बगल से गुजरी तुम लालसा-लहर-सी,
मन मेरा रँग गया, गंध से मन्द पवन भी महका।

किन्तु, हाय, तुममें बसनेवाली की यही समर्चा ?
इतनी ही पूजा ? इतना ही क्या नैवेद्य-समर्पण ?
राग-रंग की हवा उड़ाये दूर लिए जाती है
तुम्हें, तुम्हारे सहज प्रमद्-वन से उद्भ्रान्त सुरभि-सी।
वह वन, जिसमें कभी तितलियाँ पंख नहीं रँगती हैं;
औ' गुलाब सुरभित होने का गंध न मोल मँगाता।
रूप और यौवन पत्तों-से उड़ते नहीं हवा में,
मन का बन्धन मान कठिन उद्देश्य सिद्ध करते हैं।

जनाकीर्ण संसार-बीच कितने का मन बाँधोगी ?
निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किस का ?
नहीं जानती हो, जितनी है हलकी चोट तुम्हारी,
उससे भी हलकी है इन बिंधनेवालों की पीड़ा।
वज्र-लेख यह नहीं सुन्दरी, जिस पर गर्व करो तुम,
आती और चली जाती हो जल पर की रेखा-सी।
जगा नहीं सकती यह जल की रेखा प्राण-पुरुष को,
जिसे छेड़ तुम हँसती हो, वह चर्म-कंप है केवल।
पुरुष वज्र-लेखन का भूखा, सो वह लिखनेवाली
सात पत्थरों के नीचे है दबी अभी तक तुम में।
तुम जितना विभ्रम करती, वह आकुल होती उतनी,
जितना व्यर्थ बनाव, क्षीण उतनी होती जाती है।
मृषा-रभस के कोलाहल से प्राण विकल हैं उसके;
सारहीन चुम्बन से उसका दम घुटता जाता है।
कौतुक-हास-विलास-रभस की अयि सजीव प्रतिमाओ !
देखो निज में झाँक कभी उस म्लानमुखी नारी को।

(२)

लज्जा, शील, सजीव धर्म की एक मूर्त्ति सकुचाती
बैठी है गाड़ी के कोने में सिमटी गठरी - सी।
बड़ी सावधानी से अपने को हर तरह छिपाये,
तन को, मन को और हाथ–पैरों की उँगली को भी।
तब भी कुछ बेचैन हुई-सी बार-बार हिलती है,
आँखों की जलती किरणें, शायद, चुभती हैं उसको।
डरी हुई हरिनी-सी वह मन - ही - मन काँप रही है,
अब भी ज्यों सम्यक् - रक्षित सर्वस्व लुटा जाता हो।

उसकी अंतःकली खिली शीतल तम की छाया में,
नहीं देख सकती वह दिन की खुली धूप को सुख से।
वह प्रकाश-वंचित युग से, है उसका क्षीण मनोबल,
प्रत्यय नहीं रहा अब उसको अपने तेज प्रखर का।
लुब्ध-दृष्टि-विशिखों से बच डरती-सी वह चलती है,
नहीं सामना कर सकती उनका निज प्रखर विभा से।
वह समाज की विवश वन्दिनी सब कुछ छोड़ चुकी है,
बचा रखा है केवल उसने एक शील नारी का।
यही परम सर्वस्व, जिसे वह आतुर सदा छिपाती,
पटावरण के भीतर तन में, तन के भीतर मन में।
सुख पाती है देख पूर्ण छवि अपनी इसी मुकुर में,
डरती है लग जाय न इस पर मल जग की आंखों का।
वंचित वह उस नई ज्योति से, जिससे ऐसे दर्पण
बहुत बार मैले होते औ' बहुत बार धुलते हैं।

काँप रही शंकिता मृगी-सी वह सिकुड़ी-सिमटी थी,
जी करता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे उढ़ा दूँ।
याकि जगा दूँ उसके भीतर की उस लाल शिखा को,
आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जायेगी।
घोर ग्लानि से झुक जायेंगे नयन घूरने वाले,
झुक जायेंगी कलुष-ज्ञान से दबी, हीण ग्रीवाएँ।

दूर करो मुख से इस पट को, हे कुलबधू पुनीते!
इससे कहीं सघन घूँघट है मनस्तेज की तुम में।
ओढ़ो उसे, मनोबल का वह दिव्य फलक है ऐसा,
हिम्मत नहीं, तुम्हें देखे कोई कुत्सित आँखों से।
मन का प्रखर तेज-पट ओढ़े तुम निःशंक चलोगी;
जहाँ रहोगी वहाँ पुण्य की प्रभा रहेगी घेरे।
नर में जो मल-पुंज कौतुकी कायर दनुज छिपा है,
ज्वालावरण देख नत होगा, तुम से स्वयं डरेगा।

(३)

आँखों में गीली काजल; लंबी रेखा सेंदुर की
नासिकाग्र से चली गई है ऊपर चीर चिकुर को—
सीधी रेख बना; कच दोनों ओर सजे हैं ऐसे,
फट कर दी हो राह तिमिर ने जैसे किसी किरण को।
पहँची पर हैं नई चूड़ियाँ; रँगी हुई अलता से
हाथों की उँगलियाँ दीखतीं लाल-लाल कोंपल-सी।
तन पर पीला वसन, ज्योति पीली कुम्हलाये मुख की,
माँ बन कर रमणी प्रसूति-गृह से तुरन्त निकली है।
कई दिनों की छाया और धुओं से वह कुम्हलाई,
कची धूप-सदृश लगती है कुछ-कुछ गीली-गीली।

अंगों में अब शेष नहीं पहले की सरल चपलता;
सबके सब दायित्व-ज्ञान से कुछ-कुछ दबे हुए हैं।
वाणी संयमशील, धीरता है भर गई पदों में,
आँखों के संकोच, शील में गौरव भर आया है!

शरमाती पैठी थी उत्सुक बधू प्रसूति-सदन में,
निकली है लेकर पुनीत, गंभीर हृदय माता का।
जब से उज्ज्वल प्रेम उमड़ आँचल में फूट पड़ा है,
एक सरल संतोष झलकता है उसके आनन पर।

अंचल के सुकुमार फूल को वह यों देख रही है,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से।
'वीर, धनी, विद्वान्, ग्राम का नायक, विश्व-विजेता',
अपनी गोदी-बीच आज वह क्या क्या देख रही है?
शत-शहस्र ये अभिलाषाएँ, अब तक छिपी कहाँ थीं,
जाग पड़ी हैं जो कि देखते नन्हें स्तनपायी को?

माँ बनते ही ध्येय जन्म का उसको झलक गया है,
घूम रही थी दूर-दूर, आ गई निकट जीवन के।
जीवन समझ रखा था उसने क्रीड़ा-कुतुक-प्रणय को,
समझ रही अब इन सबसे भी परे तत्व है कोई।
लय, सुर, ताल, लोच से जिसके अबतक झूम रही थी,
आज रहे खुल कठिन अर्थ हैं उस अद्भुत् गायन के।
ऊपर-ही-ऊपर तिरनेवाली निर्बन्ध परी के
पहले-पहल चरण दोनों मिट्टी से आन लगे हैं।
समझ रही वह आज बोझ जीवन का है उस पर भी,
महाविश्व को जीवित रखने की वह भी दायी है।

सीधा नहीं योग नारी का जग के संघर्षों से ;
बेटों के मुख से अपना संदेश कहा करती है।
पुरुष-धर्म, जूझे संगर में अपने तेजोबल से,
नारी की करवाल महत्तम है उसका बेटा ही।
माँ के दिल की आग चमकती है बेटे की असि में ;
कहना है जो कुछ उसको वह पुत्र कहा करते हैं ;
नारी की पूर्णता पुत्र को स्वानुरूप करने में,
करते हैं साकार पुत्र ही माता के सपने को।
बिना पुत्र नारी का सम्यक् रूप नहीं खुल पाता,
जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बन कर।

काश ! समझतीं जन्मनिरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याएँ,
पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।

पुरुष-प्रिया

मैं तरुण भानु-सा अरुण, भूमि पर
उतरा रुद्र - विषाण लिये,
सिर पर ले वह्नि-किरीट, दीप्ति का
तेजवन्त धनु - बाण लिये।

स्वागत में डोली भूमि, त्रस्त
भूधर ने हाहाकार किया,
वन की विशीर्ण अलकें झकोर
झंझा ने जयजयकार किया।

नाचती चतुर्दिक घूर्णि चली,
मैं जिस दिन चला विजय-पथ पर ;
नीचे धरणी निर्वाक् हुई,
सिहरा अशब्द ऊपर अम्बर।

मुक्ता ले सिन्धु शरण आया
मैंने जब किया सलिल-मन्थन,
मेरे इङ्गित पर उगल दिये
भू ने उर के फल, फूल, रतन।

दिग्विदिक् सृष्टि के पर्ण-पर्ण पर
मैंने निज इतिहास लिखा,
दिग्विदिक् लगी करने प्रदीप्त
मेरे पौरुष की अरुण शिखा।

मैं स्वर्ग-देश का जयी वीर,
भू पर छाया शासन मेरा;
हाँ, किया वहन नतभाल, दमित
मृगपति ने सिंहासन मेरा।

कर दलित चरण से अद्रि-भाल,
चीरते विपिन का मर्म सघन,
मैं विकट, धनुर्धर, जयी वीर
था घूम रहा निर्भय रन-वन।

उर के मन्थन की दर्द-भरी
घड़ियों से थी पहचान नहीं,
सुमनों से हारे भीम शैल,
तबतक था इतना ज्ञान नहीं।

चूमे जिसको झुक अहङ्कार,
वह कली, स्यात्, तबतक न खिली;
लज्जित हो अनल-किरीट, चाँदनी
तबतक थी ऐसी न मिली।

सहसा आई तुम मुझ अजेय को
हँसकर जय करनेवाली,
आधी मधु, आधी सुधा - सिक्त
चितवन का शर भरनेवाली।

मैं युवा सिंह से खेल रहा था
एक प्रात निर्झर - तट पर,
तुम उगी तीर पर माया-सी
लघु कनक-कुम्भ साजे कटि पर।

लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे,
दृग - बीच तरल अनुराग लिये;
चरणों में ईषत् अरुण, क्षीण
जलधौत अलक्तक-राग लिये।

सद्यःस्नाता, मद - भरित, सिक्त
सरसीरुह की अम्लान कली,
अक्षता, सद्य पाताल - जनित
मदिरा की निर्झरिणी पतली।

मैं चकित देखने लगा तुम्हें,
तुमने विस्मित मुझको देखा;
पल - भर हम पढ़ते रहे पूर्व—
युग का विस्मृत, धूमिल लेखा।

तुम नई किरण-सी लगी, मुझे
सहसा अभाव का ध्यान हुआ,
जिस दिन देखा यह हरित स्रोत,
अपने ऊसर का ज्ञान हुआ।

मैं रहा देखता निर्निमेष, तुम
खड़ी रही अपलक-चितवन,
नस-नस जृम्भा संचरित हुई,
संत्रस्त, शिथिल उर के बन्धन।

सहसा बोली, 'प्रियतम', अधीर,
श्लथ कटि से गिरा कलस तेरा,
गिर गए बाण, गिर गया धनुष,
सिहरा यौवन का रस मेरा।

प्रियतम', 'प्रियतम', रसकूक मधुर
कब की श्रुत-सी, कुछ जानो-सी,
'प्रियतम', 'प्रियतम', रूपसी कौन
तुम युग-युग की पहचानो-सी ?

उमड़ा व्याकुल यौवन विबन्ध,
उर की तन्त्री झनकार उठी;
सब ओर सृष्टि में निकट-दूर
'प्रियतम', की मधुर पुकार उठी।

तुम अर्द्ध-चेतना में बोली,
"मैं खोज थकी, तुम आ न सके,
लद गई कुसुम से डाल, किन्तु,
अबतक तुम हृदय लगा न सके।

"सीखा यह निर्दय खेल कहाँ ?
तुम तो न कभी थे निठुर पिया।"
मैं चकित, भ्रमित कुछ कह न सका,
मुख से निकले दो वर्ण, 'प्रिया'।

दो वर्ण 'प्रिया', यह मधुर नाम
रसना की प्रथम ऋचा निर्मल,
उल्लसित हृदय की प्रथम बीचि,
सुरसरि का विन्दु प्रथम उज्ज्वल।

नर की यह चकित पुकार 'प्रिया',
जब पहली दृष्टि पड़ी रानी,
जिस दिन मन की कल्पना उतर
भू पर हो गई खड़ी रानी।

विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया',
जब तुम नीलिमा गगन की थी;
जब कर-स्पर्श से दूर अगुण
रस-प्रतिमा स्वप्न-मगन की थी;

जब पुरुष-नयन में वह्नि नहीं,
था विस्मय-जड़ित कुतुक केवल;
जब तुम अचुम्बिता, दूर-ध्वनित
थी किसी सुरा का मद-कलकल।

विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया',
जिस दिन तुम थी केवल नारी;
नर की ग्रीवा का हार नहीं भुज-
बँधी वल्लरी सुकुमारी।

दो वर्ण, 'प्रिया', यह नाद उषा
सुनती शिखरों पर प्रथम उतर;
दो वर्ण 'प्रिया', कुछ मन्द-मन्द
इस ध्वनि से ध्वनित गहन अम्बर।

दो वर्ण 'प्रिया', संध्या सुनती
झुक अतल मौन सागर-तल में;
सुन-सुनकर हृदय पिघल जाता
इसका गुञ्जन दृग के जल में।

सुन रहीं दिशाएँ मौन खड़ी,
सुन रही मग्न नभ की बाला;
सुन रहे चराचर, किन्तु, एक
सुनता न पुरुष कहनेवाला।

अकलङ्क प्राण का सम्बोधन
सुनते जो कर्ण अजान प्रिये,
तो पुरुष-प्रिया के बीच आज
मिलता न एक व्यवधान प्रिये।

व्यवधान वासना का कराल
जगते जो आग लगाती है;
जो तप्त शाप-विष फूँक सरल
नयनों को हिंस्र बनाती है।

उन आँखों का व्यवधान, ज्ञात
जिनको न रहस्यों का गोपन,
देखा कुछ कहीं कि कह आतीं
सब कुछ प्राणों के भवन-भवन।

उत्सुक नर का व्यवधान, शृङ्ग
लख जिसे सूझता आरोहण;
जल-राशि देख संतरण और
वन सघन देखकर अन्वेषण।

अम्बर का देख वितान उड़ा,
'यह नील-नील ऊपर क्या है?'
मिट्टी खोदी यह सोच, "गुप्त
इस वसुधा के भीतर क्या है?"

जिस दिवस अवारित प्रेम-सदन में
विस्मित, चकित पुरुष आया,
माणिक्य देख धीरता तजी,
मुक्ता - सुवर्ण पर ललचाया।

क्या ले, क्या छोड़े, रत्नराशि का
भेद नहीं लघु जान सका,
वह लिया कि जिसमें तृप्ति नहीं,
पाना था जो वह पा न सका।

पा सका न मन का द्वार, लुब्ध
भग चला कुसुम का तन लेकर,
ग्रीवा - विलसित मन्दार - हार का
दलन किया चुम्बन लेकर।

जीवन पर प्रसरित खिली चाँदनी
को पीने की चाह इसे,
शशि का रस सकल उँड़ेल बुझे
वह कठिन, चिरन्तन दाह इसे।

तरुणी – उर को कर चूर्ण खोजने
लगा सुरभि का कोष कहाँ?
प्रतिमा विदीर्ण कर ढूँढ़ रहा,
वरदान कहाँ ? सन्तोष कहाँ ?

खोजते मोह का उत्स पुरुष ने
सारी आयु वृथा खोई ;
इससे न अधिक कुछ जान सका
तुम - सा न कहीं सुन्दर कोई ।

सब ओर तीव्र-गति घूम रहा
युग-युग से व्यग्र पुरुष चञ्चल,
तुम चिर-चञ्चल के बीच खड़ी
प्रतिमा-सी सस्मित, मौन, अचल ।

सुन्दर थी तुम जब पुरुष चला,
सुन्दर अब भी जब कल्प गया ;
जा रहा सकल श्रम व्यर्थ, नहीं
मिलता आगे कुछ ज्ञान नया ।

जब-जब फिर आता पुरुष श्रान्त,
तब तुम कहती रसमग्न 'पिया !'
मिलती न उसे फिर बात नई,
मुख से कढ़ते दो वर्ण, 'प्रिया !'

०
००

गीत

उरकी यमुना भर उमड़ चली,
तू जल भरने को आ न सकी;
मैं ने जो घाट रचा सरले!
उस पर मंजीर बजा न सकी।

दिशि-दिशि उँड़ेल विगलित कंचन,
रँगती आई सन्ध्या का तन,
कटि पर घट, कर में नील वसन;
कर नमित नयन चुपचाप चली,
ममता मुझ पर दिखला न सकी;
चरणों का धो कर राग नील-
सलिला को अरुण बना न सकी।

लहरें अपनापन खो न सकीं,
पायल का शिंजन ढो न सकीं,
युग चरण घेरकर रो न सकीं;
झिवसन आभा जलमें बिखेर
मुकुलों का बन्ध खिला न सकी;
जीवन की अयि रूपसी प्रथम!
तू पहिली सुरा पिला न सकी।

अन्तर्वासिनी

अधखिले पद्म पर मौन खड़ी
तुम कौन प्राण के सर में री ?
भींगने नहीं देती पद की
अरुणिमा सुनील लहर में री ?
तुम कौन प्राण के सर में ?

- १ -

शशि-मुख पर दृष्टि लगाये
लहरें उठ घूम रही हैं,
भयवश न तुम्हें छू पातीं
पंकज - पद चूम रही हैं;
गा रहीं चरण के पास विकल
छवि - विम्ब लिए अन्तर में री।
तुम कौन प्राण के सर में ?

- २ -

कुछ स्वर्ण - चूर्ण उड़ - उड़ कर
छा रहा चतुर्दिक मन में,
सुरधनु - सी राज रही तुम
रञ्जित, कनकाभ गगन में;
मैं चकित, मुग्ध, हतज्ञान खड़ा
आरती - कुसुम ले कर में री।
तुम कौन प्राण के सर में ?

- ३ -

जब से चितवन ने फेरा
मन पर सोने का पानी,
मधु - वेग ध्वनित नस-नस में,
सपने रँग रही जवानी;
भू की छवि और हुई तब से
कुछ और विभा अम्बर में री।
तुम कौन प्राण के सर में?

- ४ -

अयि सगुण कल्पने मेरी!
उतरो पंकज के दल से,
अन्तःसर में नहलाकर
साजूँ मैं तुम्हें कमल से;
मधु-तृषित व्यथा उच्छ्वसित हुई,
अन्तर की क्षुधा अधर में री।
तुम कौन प्राण के सर में?

०
०
०

पावस-गीत

दूर देश के अतिथि व्योम में छाये घन काले सजनी,
अङ्ग-अङ्ग पुलकित वसुधा के शीतल, हरियाले सजनी।

भींग रहीं अलकें संध्या की, रिमझिम बरस रहे जलधर,
फूट रहे बुलबुले याकि मेरे दिल के छाले सजनी?

किसका मातम? कौन बिखेरे बाल आज नभ पर आई?
रोई यों जी खोल, चले बह आँसू के नाले सजनी।

आई याद आज अलका की, किन्तु, पन्थ का ज्ञान नहीं,
विस्मृत पथ पर चले मेघ दामिनी-दीप बाले सजनी।

चिर-नवीन कवि-स्वप्न, यक्ष के अब भी दीन, सजल लोचन;
उत्कण्ठित विरहिणी खड़ी अब भी झूला डाले सजनी।

बुझती नहीं जलन अन्तर की; बरसें दृग, बरसें जलधर;
मैंने भी क्या हाय, हृदय में अंगारे पाले सजनी!

धुलकर हँसे विश्व के तृण-तृण; मेरी ही चिन्ता न धुली;
पल-भर को भी हाय, व्यथाएँ टलीं नहीं टाले सजनी।

किन्तु, आज क्षिति का मङ्गल-क्षण; यह मेरा क्रन्दन कैसा?
गीत-मग्न घन-गगन; आज तू भी मलार गा ले सजनी।

०
०
०

कत्तिन का गीत

कात रही सोने का गुन चाँदनी रूप-रस-बोरी ;
कात रही रुपहरे धाग दिनमणि की किरण किशोरी।
घन का चरखा चला इन्द्र करते नव जीवन - दान ;
तार - तार पर मैं काता करती इज्जत - सम्मान।

हरी डार पर श्वेत फूल ; यह तूल-वृक्ष मन भाया ;
श्याम हिन्द हिम-मुकुट-विमण्डित खेतों में मुसकाया।
श्वेत कमल-सी रुई मेरी; मैं कमला महरानी ;
कात रही किस्मत स्वदेश की क्षीरोदधि की रानी।

यह घर्घर का नाद, कि चरखे की बुलबुल की लय है ?
यह रूई का तार, कि फूटा जग-जननी का पय है ?
धाग-धाग में निहित निःस्व, रिक्तों का धन-संचय है ;
तार-तार पर चढ़ कर चलती कोटि-कोटि की जय है।

बोल काठ की बुलबुल, मुँह का कौर न रहे अलोना ;
सैटिन पर बह जाय नहीं पानी-सा चाँदी-सोना।
एक तार भी कात सुहागिन, यह भी नहीं अकाज ;
स्यात, छिपा दे यही नग्न के किसी रोम की लाज।
मधुर चरखे का घर्घर गान ;
देश का धाग-धाग कल्याण।

००
०

मरण

लगी खेलने आग प्रकट हो
थी विलीन जो तन में;
मेरे ही मन के पाहुन
आये मेरे आँगन में।

बन्ध काट बोला यों धीरे
मुक्ति-दूत जीवन का—
'विहग, खोलकर पंख आज
उड़ जा निर्बन्ध गगन में;'

पुण्य-पर्व में आज सुहागिनि!
निज सर्वस्व लुटा दे,
माँग रहे मुँह खोल पिया
कुछ प्रथम-प्रथम जीवन में।

आज कहाँ की लाज बावली?
खोल, चीर-पट तन से,
रहे न टुक व्यवधान, नग्न
घुल-मिल जा कनक-किरण में।

देख रहा ज्यों स्वप्न बीज
ऋतुपति का हिम, के नीचे,
छिपी हुई गोतीत-विभा त्यों
कोलाहल - क्रन्दन में।

उठी यवनिका आज तिमिर की,
अंकुर उगा विभा का;
चमक उठी वह पगडंडो जो
प्रिय के गई भवन में।

पूछ रहा था जिसकी सुधि
वन्दी! अब तक उडुगण से,
मुक्त घूमकर खोज उसे
अब फूल - फैल त्रिभुवन में।

ठौर - ठौर हैं मरण - सरोवर
बने पिया के मग में,
धोकर श्रान्ति, स्वस्थ हो पन्थी!
लग जा पुनः लगन में।

०००

समय

जर्जरकाय! विशाल!
महादनुज विकराल!
भीमाकृति! बढ़, बढ़, कबन्ध-सा कर फैलाए;
लील, दीर्घ भुज-बन्ध-बीच जो कुछ आ पाए।
बढ़, बढ़, चारों ओर, छोड़, निज ग्रास न कोई,
रह जाए अवशिष्ट सृष्टि का ह्रास न कोई।

भर बुभुक्षु! निज उदर तुच्छतम द्रव्य-निकर से,
केवल अचिर, असार, त्याज्य, मिथ्या, नश्वर से;
सब खाकर भी हाय, मिला कितना कम तुझको!
सब खोकर भी किन्तु, घटा कितना कम मुझको!

खाकर जग का दुरित एक दिन तू मदमाता,
होगा अन्तिम ग्रास स्वयं सर्वभुक् क्षुधा का।
तब भी कमल-प्रफुल्ल रहेगा शास्वत जीवन,
लहरायेगा जिसे घेर किरणों का प्लावन।

आयेगी वह घड़ी, मलिन पट मिट्टी का तज,
रश्मि-स्नात सब प्राण तारकों से निजको सज,
आ बैठेंगे घेर देवता का सिंहासन;
लील, समय, मल, कलुष कि हम पायें नवजीवन।

वह जीवन जिसमें न जरा, रुज, क्षय का भय है,
जो निसर्गतः कालजयी है, मृत्युञ्जय है।

आश्वासन

(१)

तृषित ! धर धीर मरु में,
कि जलती भूमि के उर में
कहीं प्रच्छन्न जल हो।
न रो यदि आज तरु में
सुमन की गन्ध तीखी,
स्यात्, कल मधुपूर्ण फल हो।

(२)

नए पल्लव सजीले,
खिले थे जो वनश्री को
मसृण परिधान देकर ;
हुए वे आज पीले,
प्रभञ्जन भी पधारा कुछ
नया वरदान लेकर।

(३)

दुखों की चोट खाकर
हृदय जो कूप-सा जितना
अधिक गंभीर होगा ;
उसी में वृष्टि पा कर
कभी उतना अधिक संचित
सुखों का नीर होगा।

(४)

सुधा यह तो विपिन की,
गरजती निर्झरी जो आ
गड़ी पर्वत - शिखर से।
वृथा यह भाते घन की,
दया - घन का कहीं तुझ-
पर शुभाशीर्वाद बरसे।

(५)

करें क्या बात उसकी
कड़क उठता कभी जो
व्योम में अभिमान बनकर ?
कृपा पर, ज्ञात उसकी,
उतरता वृष्टि में जो सृष्टि
का कल्याण बनकर।

(६)

सदा आनन्द लूटें,
पुलक - कलिका चढ़ा या
अश्रु से पद - पद्म धोकर ;
तुम्हारे वाण छूटें,
झुके हैं हम तुम्हारे हाथ
में कोदण्ड होकर।

कवि

ऊषा थी युग से खड़ी लिये
प्राची में सोने का पानी,
सर में मृणाल-तूलिका, तटी
में विस्तृत दूर्वा - पट धानी।

खींचता चित्र पर कौन? छेड़ती
राका की मुसकान किसे?
विम्बित होते सुख-दुख, ऐसा
अन्तर था मुकुर-समान किसे?

दन्तुरित केतकी की छवि पर
था कौन मुग्ध होनेवाला?
रोती कोयल थी खोज रही
स्वर मिला संग रोनेवाला।

अलि की जड़ सुप्त शिराओं को
थी कली विकल उकसाने को,
आकुल थी मधु वेदना विश्व की
अमर गीत बन जाने को।

थी व्यथा किसे प्रिय ? कौन मोल
करता आँखों के पानी का ?
नयनों को था अज्ञात अर्थ
तबतक नयनों की वाणी का।

उर के क्षत का शीतल प्रलेप
कुसुमों का था मकरन्द नहीं ;
विहगों के आँसू देख फूटते
थे मनुजों के छन्द नहीं।

मृगदृगी वन्य - कन्या कर पाई
थी मृगियों से प्यार नहीं,
हाँ, प्रकृति - पुरुष तबतक मिल
हो - पाये थे एकाकार नहीं।

शैथिल्य देख कलियाँ रोईं,
अन्तर से सुरभित आह उठी ;
ऊसर ने छोड़ी साँस, एक दिन
धरणी विकल कराह उठी।

यों विधि-विधान को दुखी देख
वाणी का आनन म्लान हुआ ;
उर को स्पन्दित करनेवाले
कवि के अभाव का ज्ञान हुआ।

आह टकराई सुर-तरु में,
पुष्प आ गिरा विश्व-मरु में।

* * *

कवि ! पारिजात के छिन्न-कुसुम
तुम स्वर्ग छोड़ भू पर आए,
उर - पद्म - कोष में छिपा दिव्य
नन्दनवन का सौरभ लाए।

जिस दिन तमसा-तट पर तुमने
दी फूँक बाँसुरी अनजाने,
शैलों की श्रुतियाँ खुलीं, लगे
नीड़ों में खग उठ-उठ गाने।

फूलों को वाणी मिली, चेतना
पा हरियाली डोल गई,
पुलकातिरेक में कली भ्रमर से
व्यथा हृदय की बोल गई।

प्राणों में कम्पन हुआ, विश्व की
सिहर उठी प्रत्येक शिरा ;
तुम से कुछ कहने लगी स्वयं
तृण-तृण में हो साकार गिरा।

निर्झर-मुख पर चढ़ गया रंग
सुनहरी उषा के पानी का;
उग गया चित्र हिम-विन्दु-पूर्ण-
किसलय पर प्रणय-कहानी का।

अंकुरित हुआ नव प्रेम, कंटकित
काँप उठी युवती वसुधा;
रस-पूर्ण हुआ उर-कोष, दृगों में
छलक पड़ी सौन्दर्य्य-सुधा।

कवि! तुम अनंग बनकर आये
फूलों के मृदु शर-चाप लिये,
चिर-दुखी विश्व के लिए प्रेम का
एक और संताप लिये।

सीखी जगती ने जलन, प्रेम पर
जब से बलि होना सीखा;
कलियों ने बाहर हँसी, और
भीतर-भीतर रोना सीखा।

उच्छ्वासों से गल मोम हुई
ऊसर की पाषाणी—कारा;
सींचने चली संसार तुम्हारे
उर की सुधा-मधुर धारा।

तुमने जो सुर में भरा
शिशिर-क्रन्दन में भी आनंद मिला;
रसवती हुई वेदना, आँसुओं
में जग को मकरन्द मिला।

मेघों पर चढ़कर प्रिया-पास
प्रेमी की व्याकुल आह चली;
वन-वन दमयन्ती विकल खोजती
निर्मोही की राह चली।

कवि ! स्वर्ग-दूत या चरम-स्वप्न
विधि का तुमको सुकुमार कहें ?
नन्दन-कानन का पुष्प, व्यथा-
जग का या राजकुमार कहें ?

विधि ने भूतल पर स्वर्ग-लोक
रचने का दे सामान तुम्हें ;
अपनी त्रुटि को पूरी करने का
दिया दिव्य वरदान तुम्हें।

सब कुछ देकर भी चिर-नवीन,
चिर-ज्वलित व्यथा का रोग दिया ;
फूलों से रचकर गात, भाग्य
में लिख शूलों का भोग दिया।

जीवन का रस-पीयूष नित्य
जग को करना है दान तुम्हें,
हे नीलकंठ, संतोष करो
था लिखा गरल का पान तुम्हें।

कितना जीवन रस पिला-पिला
पाली तुमने कविता प्यारी?
कवि! गिनो, घाव कितने बोलो
उर-बीच उगे बारी-बारी?

सूने में रो-रो बहा चुके
जग का कितना उपहास कहो?
दुनिया कहती है गीत जिन्हें
उन गीतों का इतिहास कहो।

दाएँ कर से जल को उछाल
तट पर बैठे क्यों मौन? अरे!
बाएँ कर से मुख ढाँक लिया,
चिन्ता जागी यह कौन? हरे!

किरणें लहरों से खेल रहीं,
मेरे कवि! आह, नयन खोलो;
क्यों सिसक-सिसक रो रहे? हाय
हे देवदूत, यह क्या बोलो?

"आँखों से पूछो, स्यात्, आँसुओं
में गीतों का भेद मिले;
मुझको इतना भर ज्ञात, व्यथा
जब हरी हुई सब वेद मिले।

"पाली मैंने जो आग, लगा
उसको युग का जादू - टोना;
फूटती नहीं, हाँ जला रही
चुपके उर का कोना - कोना।

आँखें जो कुछ हैं देख रहीं
उनका कहना भी पाप मुझे;
क्या से क्या होगा विश्व, यही
चिन्ता, विस्मय, सन्ताप मुझे।

"मुझ को न याद किस दिन मैंने
किस अमर व्यथा का पान किया;
दुनिया कहती है गीत, रुदनकर
मैंने साँझ - बिहान किया।"

*　　　*　　　*

आँसू पर देता विश्व हृदय का
कोहिनूर उपहार नहीं;
रोओ कवि! दैवी व्यथा विश्व में
पा सकती उपचार नहीं।

रोओ, रोना वरदान यहाँ
प्राणों का आठो याम हुआ ;
रोओ, धरणी का मथित हलाहल
पीकर ही नभ श्याम हुआ।

खारी लहरों पर स्यात्; कहीं
आशा का तिरता कोक मिले;
रोओ कवि! आँसू-बीच, स्यात्,
धरणी को नव आलोक मिले।

कालिदास

समय-सिन्धु में डूब चुके हैं मुकुट, हर्म्य विक्रम के,
राजसिद्धि सोई कब जानें महागर्त में तम के।
समय सर्वभुक लील चुका सब रूप अशोभन-शोभन,
लहरों में जीवित है कवि, केवल गीतों का गुञ्जन।

शिला-लेख, मुद्रा के अंकन, सब हो चुके पुराने,
केवल गीत कमल-पत्रों के हैं जाने-पहचाने।
सब के गये, शेष हैं लेकिन, कोमल प्राण तुम्हारे,
तिमिर-पुंज में गूँज रहे ज्योतिर्मय गान तुम्हारे।

काल-स्त्रोत पर नीराजन-सम ये बलते आये हैं;
दिन-मणि बुझे, बुझे विधु, पर ये दीप न बुझ पाये हैं।
कवे! तुम्हारे चित्रालय के रंग अभी हैं गीले,
कैली कली है; फूल फूल, फल ताजे और रसीले।

वाणी का रस-स्वप्न खिला था जो कि अवन्तीपुर में,
ज्यों का त्यों है जड़ा हुआ अब भी भारत के उर में।
उज्जयिनी के किसी फुल्ल-वन-शोभी रूप-निलय से
विरह-मिलन के छन्द उड़े आते हैं मिले मलय से।

एक सिक्त-कुन्तला खोलकर मेघों का वातायन
अबतक विकल रामगिरि-दिशि में हेर रही कुछ उन्मन।
रसिक मेघ पथ का सुख लेता मन्द-मन्द जाता है,
अलका पहुँच सँदेशा यक्ष का सुना नहीं पाता है।

और हुताशनवती तपोवन की निर्धूम शिखाएँ
लगती हैं सुरभित करती-सी मन की निखिल दिशाएँ।
एक तपोवन जीवित है अब भी भारत के मन में,
जहाँ अरुण आभा प्रदोष की विरम रही कानन में।

बँधे विटप से वैखानस के चीवर टँगे हुए हैं,
ऋषि-रजनीमुख-हवन-कर्म में निर्भय लगे हुए हैं।
मुनिबाला के पास दौड़ता मृगशावक आता है,
ज्यों-त्यों दर्भजनित क्षत अपने मुख का दिखलाता है।

वह निसर्ग-कन्या अपने आश्रमवासी परिजन को-
लगा इंगुदी-तैल, गोद ले सुहलाती है तन को।
बहती है मालिनी कहीं अब भी भारत के मन में,
प्रेमी प्रथम मिला करते जिसके तट वेतस-वन में।

प्रथम स्पर्श से झंकृत होती वेपथुमती कुमारी,
एक मधुर चुम्बन से ही खिलकर हो जाती नारी।
दर्भांकुश खींचती चरण से झुकी अरालासन से
देख रही रूपसी एक प्रिय को मधु-भरे नयन से।

इस रहस्य-कानन की अगणित निबिडोन्नतस्तनाएँ,
कान्तप्रभ शरदिन्दु-रचित छवि की सजीव प्रतिमाएँ,
हँसकर किसकी शमित अग्नि को जिला नहीं देती हैं ?
किस पिपासु को सहज नयन-मधु पिला नहीं देती हैं ?

अमित युगों के अश्रु, अयुत जन्मों की विरह-कथाएँ,
अमित जनों की हर्ष-शोक-उल्लासमयी गाथाएँ,
भूतल के दुख और अलभ सुख जो कुछ थे अम्बर में,
सब मिल एकाकार हो गये कवे ! तुम्हारे स्वर में।

किसका विरह नहीं बजता अलकावासिनि के मन में ?
किसके अश्रु नहीं उड़ते हैं बनकर मेघ गगन में ?
किसके मन की खिली चाँदनी परी न बन जाती है ?
वनकन्या बन लता-ओट छिप किसे न ललचाती है ?

कम्पित रुधिर थिरकता किसका नहीं रणित नूपुर में ?
मिलन-कल्पना से न दौड़ जाती विद्युत किस उर में ?
गीत लिखे होंगे कविगुरु ! तुमने तो अपने मन के,
झंकृत क्यों होते हैं स्वर इनमें त्रिकाल-त्रिभुवन के ?

विजन में

गिरि निर्वाक् खड़ा निर्जन में,
दरी हृदय निज खोल रही है,
हिल-डुल एक लता की फुनगी
इङ्गित में कुछ बोल रही है।

साँझ हुई, मैं खड़ा दूब पर
तटी-बीच कर देर रहा हूँ;
गहन शान्ति के अन्तराल में
डूब-डूब कुछ हेर रहा हूँ।

मुझ मानव को क्षितिज-वृत्त से
घेर रही नीलिमा गगन की,
तब भी सीमाहीन दीखती
आज परिधि मेरे जीवन की।

चीर शान्ति का हृदय दूर पर
झिल्ली ठहर-ठहर गाती है;
किसी अर्द्ध-विस्मृत सपने की
धूमिल-सी स्मृति उपजाती है।

सुघर, मूक, स्वप्नों के शिशु-से
मन्द मेघ नभ में तरते हैं,
नीरव ही नीरव चलकर
नीरवता में जीवन भरते हैं।

जड़-चेतन विश्राम रहे कर
प्रभु के एक शान्तिमय क्रम में,
अभी सृष्टि पूरी लगती है,
द्वन्द्व न कहीं विषम औ' सम में।

मर्त्य-अमर्त्य एक-से लगते,
मैं उन्मन कुछ सोच रहा हूँ,
मिट्टी मेरी खड़ी धरा पर,
किन्तु, स्वयं इस काल कहाँ हूँ।

००
०

प्रभाती

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(१)

भेदमय संदेश सुन पुलकित
खगों ने चञ्चु खोली;
प्रेम से झुक-झुक प्रणति में
पादपों की पंक्ति डोली;
दूर प्राची की तटी से
विश्व के तृण-तृण जगाता;
फिर उदय की वायु का वन में
सुपरिचित नाद आया।

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(२)

व्योम-सर में हो उठा विकसित
अरुण आलोक - शतदल;
चिर-दुखी धरणी विभा में
हो रही आनन्द - विह्वल।
चूमकर प्रति रोम से सिर
पर चढ़ा वरदान प्रभु का,
रश्मि-अञ्जलि में पिता का
स्नेह आशीर्वाद आया।

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(३)

सिन्धु-तट का आर्य भावुक
आज जग मेरे हृदय में,
खोजता उद्गम विभा का
दीप्त-मुख विस्मित उदय में;
उग रहा जिस क्षितिज-रेखा
से अरुण, उसके परे क्या?
एक भूला देश धूमिल-
सा मुझे क्यों याद आया?

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

संध्या

जीर्णवय अम्बर - कपालिक शीर्ण, वेपथुमान,
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य - समान।
शिथिल, मद-विह्वल, प्रकंपित-वपु, हृदय हतज्ञान
गिर गया मधुपात्र कर से, गिर गया दिनमान।

खो गई चूकर जलद के जाल में मद-धार ;
नीलिमा में हो गया लय व्योम का शृङ्गार।
शान्त विस्मित भूमि का गति - रोर ;
एक गहरी शान्ति चारों ओर।

कौन तम की आँख - सा कढ़कर प्रतीची-तीर
दिग्विदिक् निस्तब्धता को कर रहा गंभीर ?
ज्योति की पहली कली, तम का प्रथम उडु-हंस,
यह उदित किस अप्सरी का एक श्रुति-अवतंस ?

व्योम के उस पार अन्तर्धान,
श्याम संध्या का निवास-स्थान।
दिवस-भर छिपकर गगन के पार
साजती अभिसार के शृङ्गार ;
और ज्यों होता दिवा का अन्त,
जोहती आकर किसी का पन्थ।

एक अलका व्योम के उस ओर ;
यक्षिणी कोई विषाद - विभोर ;
खोजती, फिरती न मिलते कान्त ;
बीतते जाते अमित कल्पान्त ;
वेदना बजती कठिन मन-माँझ ;
पल गिना करती कि हो कब साँझ ;
अश्रु से भींगी, व्यथा से दीन ;
ऊँघती प्रिय-स्वप्न में तल्लीन ।

षोड़शी, तिमिराम्बरा सुकुमार ;
भूलुठित, पुष्पित लता-सी म्लान, छिन्नाधार ।
सिक्त पलदल, मुक्त कुन्तल-जाल ;
ग्रीव से उतरी, अचुम्बित, त्यक्त पाटल-माल ।

एक अलका व्योम के उस ओर
यक्षिणी कोई विषाद - विभोर ।

दीप्ति खोई, खो गया दिनमान ;
व्योम का सारा महल सुनसान ;
शून्य में हो, स्यात्, खोया प्यार ;
विजन नभ में इसलिए अभिसार ।

उडु नहीं, तम में न उज्ज्वल हंस ,
शुक्र, संध्या का कनक-अवतंस ।
शान्त ! पृथ्वी ! रोक ले निज रोर ,
शान्ति ! गहरी शान्ति हो सब ओर ।

नीलिमा-पट खोलकर सायास
आ रही संध्या मलीन, उदास।
देखती अवनत धरणि की ओर,
वेदना - पूरित, विषाद - विभोर।
शून्य की अभिसारिका अति दीन,
शून्य के ही प्राण-सी रवहीन।

उठ रहे पल मन्दगति निस्पन्द,
जा रहे बिछते गगन पर अश्रु-विन्दु अमन्द।
साधना-सी मग्न, स्वप्न - विलीन,
निःस्व की आराधना-सी शून्य, वेगविहीन।

पर्ण-कुञ्जों में न मर्मर गान;
सो गया थककर शिथिल पवमान।
अब न जल पर रश्मि विम्बित लाल;
मूँद उर में स्वप्न सोया ताल।
सामने द्रुमराजि तमसाकार,
बोलते तम में विहग दो - चार;
झींगुरों में रोर खग के लीन;
दीखते ज्यों एक रव अस्पष्ट अर्थविहीन।
दूर-श्रुत अस्फुट कहीं की तान,
बोलते मानों, तिमिर के प्राण।

व्योम से झरने लगा तमचूर्ण - संग प्रमाद,
तारकों से भूमि को आने लगा संवाद।

सघन, श्याम विषाद का अंचल तिमिर पर डाल,
शान्त कर से छू रही संध्या भुवन का भाल।

सान्त्वना के स्पर्श से श्रम भूल,
सो रहे द्रुम पर उनींदे फूल।
झुक गए पल्लव शिथिल, साभार;
ऊँघने अलसित लगा संसार।
शान्ति, गहरी शान्ति चारों ओर
एक मेरे चित्त में कल रोर—

भूमि से आकाश तक जिसका अनन्त प्रसार,
बाँध लूँ उसको भुजा में युग्म बाँह पसार।

मैं बढ़ाता बाहुओं का पाश,
व्यंग्य से हँसता निखिल आकाश।

बन्ध से बाहर खड़ा निस्सीम का विस्तार,
भुज-परिधि का कुछ तिमिर, कुछ शून्य पर अधिकार।

याद कर जानें न किसका प्यार,
गिर गये दो अश्रु-कण सुकुमार।

आँसुओं की दो कनी इस साँझ का वरदान,
अश्रु के दो विन्दु पिछली प्रीति की पहचान।
अश्रु दो निस्सीम के पद पर हृदय का प्यार,
सान्त का स्मृति - चिह्न पावन, क्षुद्रतम उपहार।

*

अगेय की ओर

गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(१)

सुनना श्रवण चाहते अबतक
भेद हृदय जो जान चुका है ;
बुद्धि खोजती उन्हें जिन्हें जीवन
निज को कर दान चुका है।
खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद-पद्मों के ऊपर ;
बाहु-पाश से दूर जिन्हें विश्वास
हृदय का मान चुका है।
जोह रहे उनका पथ दृग,
जिनको पहचान गया है चिन्तन।
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(२)

उछल-उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल ;
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल।

मैं जल-नाद् श्रवण कर चुप हूँ ;
सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर;
है कुछ अर्थ, लक्ष्य इस रव का
या 'कुल-कुल,कल-कल' ध्वनि केवल ?

दृश्य, अदृश्य कौन सत् इनमें ?
मैं या प्राण - प्रवाह चिरन्तन ?
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(३)

जलकर चीख उठा वह कवि था,
साधक जो नीरव तपने में;
गाये गीत खोल मुँह क्या वह
जो खो रहा स्वयं सपने में ?
सुषमाएँ जो देख चुका हूँ
जल-थल में, गिरि, गगन, पवन में,
नयन मूँद् अन्तर्मुख जीवन
खोज रहा उनको अपने में।

अन्तर - वहिर एक छवि देखी,
आकृति कौन ? कौन है दर्पण ?
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(४)

चाह यही छू लूँ स्वप्नों की
नग्न कान्ति बढ़कर निज कर से ;
इच्छा है, आवरण स्रस्त हो
गिरे दूर अन्तःश्रुति पर से।
पहुँच अगेय - गेय - संगम पर
सुनूँ मधुर वह राग निरामय,
फूट रहा जो सत्य सनातन
कविर्मनीषी के स्वर-स्वर से।

गीत बनी जिनकी झाँकी,
अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन।
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

सावन में

जेठ नहीं, यह जलन हृदय की,
उठकर जरा देख तो ले;
जगती में सावन आया है,
मायाविनि! सपने धो ले।

जलना तो था बदा भाग्य में
कविते! बारह मास तुझे;
आज विश्व की हरियाली पी
कुछ तो प्रिये, हरी हो ले।

नन्दन आन बसा मरु में,
घन के आँसू वरदान हुए;
अब तो रोना पाप नहीं,
पावस में सखि! जी भर रो ले।

अपनी बात कहूँ क्या! मेरी
भाग्य - लीक प्रतिकूल हुई;
हरियाली को देख आज फिर
हरे हुए दिल के फोले।

सुन्दरि ! ज्ञात किसे, अन्तर का
उच्छल - सिन्धु विशाल बँधा ?
कौन जानता तड़प रहे किस
भाँति प्राण मेरे भोले !

सौदा कितना कठिन सुहागिनि !
जो तुझ से गँठ-बन्ध करे ;
अंचल पकड़ रहे वह तेरा ,
संग - संग वन - वन डोले ।

हाँ, सच है, छाया सुरूर तो
मोह और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिये प्रेम-रस ,
जिये अगर बाउर हो ले ।

भ्रमरी

पी मेरी भ्रमरी, वसन्त में
अन्तर-मधु जी-भर पी ले;
कुछ तो कवि की व्यथा सफल हो,
जलूँ निरन्तर, तू जी ले।

चूस-चूस मकरन्द हृदय का
संगिनि ? तू मधु-चक्र सजा,
और किसे इतिहास कहेंगे
ये लोचन गीले—गीले ?

लते ? कहूँ क्या, सूखी डालों
पर क्यों कोयल बोल रही ?
बतलाऊँ क्या, ओस यहाँ क्यों ?
क्यों मेरे पल्लव पीले ?

किसे कहूँ ? धर धीर सुनेगा
दीवाने की कौन व्यथा ?
मेरी कड़ियाँ कसी हुई,
बाकी सबके बन्धन ढीले।

मुझे रखा अज्ञेय, अभी तक
विश्व मुझे अज्ञेय रहा ;
सिन्धु यहाँ गंभीर, अगम,
सखि ? पन्थ यहाँ ऊँचे-टीले।

००
०

रहस्य

तुम समझोगे बात हमारी ?

(१)

उडु - पुञ्जों के कुञ्ज सघन में,
भूल गया मैं पन्थ गगन में,
जगे-जगे आकुल पलकों में बीत गई कल रात हमारी।

(२)

अस्तोदधि की अरुण लहर में,
पूरब-ओर कनक - प्रान्तर में,
रँग-सी रही पंख उड़-उड़कर तृष्णा सायं-प्रात हमारी।

(३)

सुख-दुख में डुबकी - सी देकर,
निकली वह देखो, कुछ लेकर,
श्वेत, नील दो पद्म करों में, सजनी सद्यः-स्नात हमारी।

०००

संबल

सोच रहा, कुछ गा न रहा मैं।

(१)

निज सागर को थाह रहा हूँ,
खोज गीत में राह रहा हूँ,
पर, यह तो सब कुछ अपने हित, औरों को समझा न रहा मैं।

(२)

वातायन शत खोल हृदय के,
कुछ निर्वाक् खड़ा विस्मय से,
उठा द्वार-पट चकित झाँक अपनेपन को पहचान रहा मैं।

(३)

ग्रन्थि हृदय की खोल रहा हूँ,
उन्मन-सा कुछ बोल रहा हूँ,
मन का अलस खेल यह गुनगुन, सचमुच गीत बना न रहा मैं।

(४)

देखी दृश्य-जगत की झाँकी,
अब आगे कितना है बाकी?
गहन शून्य में मग्न, अचेतन, कर अगीत का ध्यान रहा मैं।

(५)

चरण-चरण साधन का श्रम है,
गीत पथिक की शान्ति परम है,
ये मेरे संबल जीवन के, जग का मन बहला न रहा मैं।

(६)

एक निरीह पथिक निज मग का,
मैं न सुयश-भिक्षुक इस जग का,
अपनी ही जागृति का स्वर यह, बन्धु, और कुछ गा न रहा मैं।
सोच, रहा समझा न रहा मैं।

प्रतीक्षा

अयि संगिनी सुनसान की !

(१)

मन में मिलन की आस है,
दृग में दरस की प्यास है,
पर ढूँढ़ता फिरता जिसे
उसका पता मिलता नहीं,
झूठे बनी धरती बड़ी,
झूठे बृहत् आकाश है;
मिलती नहीं जग में कहीं
प्रतिमा हृदय के गान की।
अयि संगिनी सुनसान की !

(२)

तुम जानती सब बात हो,
दिन हो कि आधी रात हो,
मैं जागता रहता कि कब
मंजीर की आहट मिले,
मेरे कमल-वन में उदय
किस काल पुण्य-प्रभात हो;
किस लग्न में हो जाय कब
जान कृपा भगवान की।
अयि संगिनी सुनसान की !

(३)

मुख में हँसी, मन म्लान है,
उजड़े घरों में गान है,
जग ने सिखा रक्खा, गरल-
पीकर सुधा - वर्षण करो,
मन में पचा ले आह जो
सब से वही बलवान है।
उर में पुरातन पीर, मुख
पर द्युति नई मुसकान की।
अयि संगिनी सुनसान की।

शेष-गान

रागिनि, जी भर गा न सका मैं।

(१)

गायन एक व्याज इस मन का,
मूल ध्येय दर्शन जीवन का,
रंगता रहा गुलाब, पटी पर अपना चित्र उठा न सका मैं।

(२)

इन गीतों में रश्मि अरुण है,
बाल ऊर्म्मि, दिनमान तरुण है,
बँधे अमित अपरूप रूप, गीतों में स्वयं समा न सका मैं।

(३)

बँधे सिमट कुछ भाव प्रणय के,
कुछ भय, कुछ विश्वास हृदय के,
पर, इन से जो परे तत्व वर्णों में उसे बिठा न सका मैं।

(४)

घूम चुकी कल्पना गगन में,
विजन विपिन नन्दन - कानन में,
अग-जग घूम थका, लेकिन, अपने घर अब तक आ न सका मैं।

(५)

गाता गीत विजय - मद - माता,
मैं अपने तक पहुँच न पाता,
स्मृति - पूजन में कभी देवता को दो फूल चढ़ा न सका मैं।

(६)

परिधि - परिधि मैं घूम रहा हूँ,
गन्ध - मात्र से झूम रहा हूँ,
जो अपीत रस-पात्र अचुम्बित, उस पर अधर लगा न सका मैं।

(७)

सम्मुख एक ज्योति झिलमिल है,
हँसता एक कुसुम खिलखिल है,
देख-देख मैं चित्र बनाता, फिर भी चित्र बना न सका मैं।

(८)

पट पर पट मैं खींच हटाता,
फिर भी कुछ अदृश्य रह जाता,
यह मायामय भेद कौन ? मन को अबतक समझा न सका मैं।

(९)

पल - पल दूर देश है कोई,
अन्तिम गान शेष है कोई,
छाया देख रहा जिसकी, काया का परिचय पा न सका मैं।

(१०)

उड़े जा रहे पंख पसारे,
गीत व्योम के कूल - किनारे,
उस अगीत की ओर जिसे प्राणों से कभी लगा न सका मैं।

(११)

जिस दिन वह स्वर में आयेगा,
शेष न फिर कुछ रह जायेगा,
कहकर उसे कहूँगा वह जो अबतक कभी सुना न सका मैं।